Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.org for updates

वीतराग विज्ञान

भाग-5

छहढाला की पाँचवी ढाल पर

प्रवचन

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.org for updates

वीतराग-विज्ञान

भाग — ५

(कविवर पण्डित दौलतरामजी विरचित
छहढाला की पांचवी ढाल पर
पूज्यश्री कानजीस्वामी के प्रवचन)

सम्पादक :

डॉ. हुकमचन्द भारिल्ल

एम.ए., शास्त्री, न्यायतीर्थ, पी- एच.डी.

अनुवादक :

पण्डित अभयकुमार जैन

शास्त्री, जैन दर्शनाचार्य, एम.कॉम.

प्रकाशक :

पूज्य श्री कानजीस्वामी स्मारक ट्रस्ट, देवलाली

एवं

पण्डित टोडरमल स्मारक ट्रस्ट

ए-४, बापूनगर, जयपुर - ३०२०१५

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.org for updates

प्रथम संस्करण : ३ हजार
(२६ जनवरी १९९८)

मूल्य : **छह रुपए**

टाइपसैटिंग :
प्रिन्टोमैटिक्स
दुर्गापुरा, जयपुर
फोन : ५४८५४९

मुद्रक :
जे. के. ऑफसैट प्रिन्टर्स
जामा मस्जिद
दिल्ली

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Thanks & Our Request

This shastra has been kindly donated by an AtmaArthi from London, who has paid for it to be "electronised" and made available on the internet.

Our request to you:

1) Great care has been taken to ensure this electronic version of Vitraag Vignaan – Chha Dhala Pravachan Part 5 (Hindi) is a faithful copy of the paper version. However if you find any errors please inform us on rajesh@AtmaDharma.com so that we can make this beautiful work even more accurate.

2) Keep checking the version number of the on-line shastra so that if corrections have been made you can replace your copy with the corrected one.

Version History

Version Number	Date	Changes
001	8 August 2009	First electronic version

प्रकाशकीय

पण्डित प्रवर श्री दौलतरामजी कृत छहढाला की पांचवीं ढाल पर आध्यात्मिक संत पूज्य श्री कानजीस्वामी के प्रवचन प्रकाशित करते हुए हमें हार्दिक प्रसन्नता का अनुभव हो रहा है।

छहढाला दिगम्बर जैन समाज का सर्वाधिक लोकप्रिय सरल एवं बोधगम्य ग्रन्थ है। अध्यात्म रस से भरपूर यह ग्रन्थ 'गागर में सागर' की उक्ति को चरितार्थ करता है। आज भी दिगम्बर जैन समाज में सैकड़ों नर-नारियों को यह ग्रन्थ कंठस्थ है तथा दिगम्बर जैन समाज के सभी परीक्षा बोर्डों के पाठ्यक्रम में यह सम्मिलित है।

समयसार आदि आध्यात्मिक ग्रन्थों की भांति छहढाला भी पूज्य स्वामीजी को अत्यन्त प्रिय था तथा इस पर उन्होंने प्रवचन करके इसका मर्म जन-जन तक पहुंचाया है।

पूज्य स्वामीजी इस युग के सर्वाधिक चर्चित आध्यात्मिक क्रान्तिकारी महापुरुष हो गए हैं। वर्तमान में दृष्टिगोचर दिगम्बर जैनधर्म की अभूतपूर्व धर्मप्रभावना का श्रेय पूज्य स्वामीजी को ही है। उनका कार्यकाल दिगम्बर जैनधर्म के प्रचार-प्रसार का स्वर्णयुग रहा है।

यद्यपि आज वे हमारे बीच नहीं हैं, तथापि उनके प्रताप से निर्मित इकसठ दिगम्बर जिनमन्दिर एवं लाखों की संख्या में प्रकाशित सत्साहित्य हमें हजारों वर्षों तक सत्य का दिग्दर्शन कराता रहेगा।

षट्खण्डागम भाग—१, समयसार, प्रवचनसार, पंचास्तिकाय, नियमसार, अष्टपाहुड़, पुरुषार्थसिद्ध्युपाय, बृहद् द्रव्य संग्रह, मोक्षमार्ग प्रकाशक, तत्त्वार्थसार, आत्मानुशासन, कार्तिकेयानुप्रेक्षा, पद्मनन्दि पंचविंशतिका, समयसार कलश टीका, नाटक समयसार, छहढाला आदि अनेक ग्रन्थों पर प्रवचनों के माध्यम से उन्होंने अनेकान्त, वस्तु स्वातन्त्र्य, कर्ता-कर्म सम्बन्ध, क्रमबद्धपर्याय, निमित्त उपादान आदि जैन दर्शन के आधारभूत सिद्धान्तों की आगम एवं युक्तिसंगत व्याख्या करके जिनशासन की अद्वितीय सेवा की है। उनके प्रवचनों के प्रभाव से जिनागम का प्रत्येक सैद्धान्तिक पहलू तथा जिनागम की प्रतिपादन शैली स्याद्वाद,

निश्चय-व्यवहार तथा प्रमाण-नय-निक्षेप आदि का स्वरूप भी जन-जन में चर्चित हो गया है।

अध्यात्म के गूढ़ रहस्यों का सांगोपांग विवेचन उनकी वाणी की महत्वपूर्ण विशेषता रही है। उनके द्वारा प्रतिपादित स्वानुभूति का स्वरूप, विषय एवं उसके पुरुषार्थ का विवेचन चिरकाल से स्वानुभूति की प्रेरणा देता रहेगा।

स्वाध्याय के क्षेत्र में पूज्य स्वामीजी ने अभूतपूर्व क्रान्ति की है। उनके प्रवचनों के प्रभाव से समाज में स्वाध्याय की प्रवृत्ति को यथार्थ दिशा मिली है। नय विवक्षापूर्वक जिनवाणी का भावार्थ हृदयंगम करते हुए स्वाध्याय करने की परम्परा का विकास उन्हीं की देन है।

छहढाला ग्रन्थ पर पूज्य स्वामीजी ने गुजराती भाषा में प्रवचन किए थे, जिनका संकलन स्व. ब्र. हरिलाल ने वीतराग-विज्ञान के नाम से किया था। यह बाद में पृथक्-पृथक् भाग के रूप में सोनगढ़ से प्रकाशित किए गए थे। इसका हिन्दी अनुवाद कराकर भाग — १, २, ३, व ४ का प्रकाशन हम पूर्व में कर चुके हैं, अब यह पांचवां भाग भी आपके हाथों में है। छठवें भाग का अनुवाद कार्य चल रहा है, वह भी शीघ्र प्रकाशित करने की भावना है।

इस पांचवें भाग का गुजराती से हिन्दी अनुवाद पण्डित अभयकुमार जैन शास्त्री ने किया है तथा सम्पादन का महत्वपूर्ण कार्य डॉ. हुकमचन्दजी भारिल्ल ने किया है। संस्था दोनों महानुभावों का हृदय से आभार मानती है।

प्रकाशन व्यवस्था सदा की भांति विभाग के प्रभारी अखिल बंसल ने सम्हाली है अतः वे धन्यवाद के पात्र हैं। जिन महानुभावों ने इस पुस्तक की कीमत कम करने में सहयोग प्रदान किया है, संस्था उनकी भी आभारी है।

इस पांचवीं ढाल में बारह भावनाओं का चित्रण किया गया है। आप सभी बारह भावना के मर्म को समझकर अपना आत्मकल्याण करें, इसी भावना के साथ —

ट्रस्टी	महामंत्री
पूज्य श्री कानजीस्वामी स्मारक ट्रस्ट, देवलाली	पण्डित टोडरमल स्मारक ट्रस्ट, जयपुर

विषय - सूची

१.	प्रकाशकीय	३
२.	विषय सूची	५
३.	मनुष्य भव में मुनिधर्म	७
४.	अनित्यभावना	१६
५.	अशरण भावना	२५
६.	संसार भावना	३१
७.	एकत्व भावना	४४
८.	अन्यत्व भावना	५१
९.	अशुचि भावना	५४
१०.	आस्रव भावना	६४
११.	संवर भावना	६९
१२.	निर्जरा भावना	७८
१३.	लोक भावना	८४
१४.	बोधिदुर्लभ भावना	९२
१५.	धर्म भावना	१०६
१६.	अपनी अनुभूति पिछानी	१११

पर को अपना मान बैठा, निज को पहिचाना नहीं।
भूल है यह आपकी जो आपको जाना नहीं॥
आपको जाने बिना परमात्म-पद पाना नहीं।
परमात्म-पद पाकर फिर संसार में आना नहीं॥

वीतराग-विज्ञान भाग — ५

छहढाला : पांचवीं ढाल

यहाँ पण्डित दौलतरामजी कृत छहढाला पर आध्यात्मिक संत पूज्य कानजीस्वामी के प्रवचन चल रहे हैं। इसमें मंगलाचरण करते हुए सर्वप्रथम तीन लोक में श्रेष्ठ — ऐसी वीतराग- विज्ञानता को नमस्कार किया गया है। उसके बाद मिथ्यात्व के कारण यह जीव चार गतियों में कैसे-कैसे दुःख सहन करता है — उनका वर्णन पहली ढाल में किया गया है तथा दूसरी ढाल में उन दुखों के कारणभूत मिथ्यादर्शन-ज्ञान-चारित्र का स्वरूप बताकर उन्हें छोड़ने का उपदेश दिया है। तीसरी ढाल में सम्यग्दर्शन का स्वरूप और उसकी महिमा बताकर उसकी आराधना करने की प्रेरणा दी है। चौथी ढाल में सम्यग्दर्शन सहित सम्यग्ज्ञान का स्वरूप कहकर श्रावक के बारह व्रतों का वर्णन किया है। बारह व्रतों का पालन करने वाला जीव स्वर्ग जाता है, फिर देवायु पूरी करके मनुष्य होता है और मुनि होते समय वैराग्यवर्धक बारह अनुप्रेक्षाओं का चिन्तवन करता है। यहाँ पाँचवीं ढाल में इन्हीं बारह भावनाओं का वर्णन किया जा रहा है।

बारह भावना

मनुष्य भव में मुनिधर्म

अब बारह भावनाओं की महिमा का वर्णन करते हुए पण्डित दौलतरामजी कहते हैं :—

मुनि सकलव्रती बड़भागी, भव-भोगनतैं वैरागी।
वैराग्य उपावन माई, चिंते अनुप्रेक्षा भाई॥ १॥
इन चिन्तत सम सुख जागे, जिमि ज्वलन पवन के लागे।
जब ही जिय आतम जाने, तब ही जिय शिवसुख ठाने ॥ २॥

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान होने के पश्चात् शुद्धि की वृद्धि होने पर श्रावकदशा उत्पन्न होती है । श्रावक की भूमिका मे होने वाले अणुव्रतों का वर्णन चौथी ढाल में किया गया है । श्रावक को और अधिक शुद्धता बढ़ने पर मुनिदशा होती है और वह सकलव्रत अर्थात् मुनिव्रतों का पालन करता है । मुनिदीक्षा लेते समय वह भेदज्ञानपूर्वक बारह वैराग्य भावनाओं का चिंतन करता है। अनित्य अशरण इत्यादि भावनाओं का चिंतन वैराग्य को उत्पन्न करने के लिए माता के समान है।

कार्तिकेयस्वामी ने बारह भावनाओं का वर्णन करते हुए उन्हें भविकजन आनन्द-जननी कहा है । वास्तव में वस्तुस्वरूप के अनुसार बारह भावनाओं का चिंतन संसार से वैराग्य उत्पन्न करता है और आत्मिक आनन्द प्रकट करता है।

अहा ! जैन मुनियों की क्या बात कहें । वे तो आत्मा के अतीन्द्रिय आनन्द में झूलते ही रहते हैं और इन वैराग्य भावनाओं के चिंतन द्वारा निरन्तर वीतरागता और आनन्द बढ़ाते रहते हैं। इसिलये ये भावनायें आनन्द की जननी हैं। तीर्थंकर भगवान भी दीक्षा लेते समय इन वैराग्य भावनाओं का चिन्तन करते हैं। अहो ! मुनि भगवंत महाभाग्यवान हैं; क्योंकि वे आत्मा के आनन्द में झूलते-झूलते मुक्ति की साधना करते हैं। यहाँ उन्हीं मुनिवरों द्वारा भायी जानेवाली भावनाओं का वर्णन किया जा रहा है।

यहाँ प्रश्न हो सकता है कि ये भावनाएँ तो मुनिवरों की हैं, हम गृहस्थों को इनसे क्या लाभ ?

इसके उत्तर में श्रीगुरु कहते हैं कि हे भाई ! यद्यपि इनमें मुनियों की प्रधानता है; परन्तु उनके समान, गृहस्थ श्रावकों को भी ये भावनाएँ भाना चाहिए; क्योंकि भेदज्ञानपूर्वक ऐसी भावना भाने से वैराग्य बढ़ाकर मुनि होने पर ही मुक्ति संभव है। जब यह जीव मुनि होकर सम्पूर्ण

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

वीतरागी चारित्रदशा प्रकट करेगा, तभी उसे केवलज्ञान होगा तथा मुक्ति प्राप्त होगी। वीतरागी चारित्र के बिना कोई जीव मोक्ष नहीं जा सकता। सम्यग्दर्शन-ज्ञान की आराधना करके फिर सम्यक्चारित्र की आराधना करना चाहिए — ऐसा जिनेन्द्रदेव का उपदेश है।

ये बारह भावनाएँ वस्तु-स्वरूप के ज्ञान सहित भाई जाती है; क्योंकि वस्तु-स्वरूप का सम्यग्ज्ञान हुए बिना इनका सच्चा चिन्तन नहीं होता। वस्तु-स्वरूप के ज्ञानपूर्वक इन भावनाओं का चिन्तन करने से जीव के परिणामों में समभावरूपी सुख तुरन्त प्रकट हो जाता है। जिसप्रकार हवा का झौंका लगने से अग्नि भभक उठती है, उसीप्रकार सम्यग्ज्ञानरूपी ज्योति में इन वैराग्य चिंतनरूपी भावनाओं का झौंका लगते ही तुरन्त वीतरागी चारित्रदशा प्रतापवन्त (प्रकट) हो जाती है अर्थात् सुख की वृद्धि होती है, समता भाव जाग्रत होता है। इसप्रकार ये बारह भावनाएँ भव्यजीवों को आनन्द देने वाली हैं। प्रत्येक जीव को ये भावनाएँ भाना चाहिये । जब यह जीव आत्मज्ञान करके वैराग्य भावनापूर्वक निजस्वरूप में लीन होता है, तभी उसे मोक्ष सुख की प्राप्ति होती है।

अहो ! मुनियों की क्या बात कहें ! मुनिराज तो सकलव्रत के धारक होते हैं तथा वे मोक्ष का महान् पुरुषार्थ करते हैं; इसलिए महान भाग्यवान हैं। वे स्वर्ग के इन्द्रों से भी अधिक सुखी हैं। संसार, शरीर और भोगों से उदासीन होकर निरन्तर आनन्ददशा में ही झूलते रहते हैं; उन्हें बारम्बार निर्विकल्पदशा प्रकट होती है तथा पुनः सविकल्पदशा होने पर वे बारह भावनाओं का चिन्तन करते हैं।

निर्विकल्पदशा के समय तो अपने स्वरूप की ही अनुभूति होती है, उस समय अन्य विचार नहीं होता। यद्यपि श्रावक और गृहस्थ सम्यग्दृष्टि को भी अतीन्द्रिय आनन्द का अनुभव होता है; परन्तु वह अत्यन्त अल्प है। मुनिराज को तो प्रचुर आनन्द प्रकट हो जाता है। वे अधिक

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

समय तक विकल्पों की आकुलता में नहीं रहते। उनका आत्मा प्रतिक्षण विकल्पों से मुक्त होता जाता है। चैतन्य के आनन्द में लीन मुनियों को विशेष निद्रा या प्रमाद नहीं होता। कभी-कभी रात्रि के पिछले प्रहर में क्षणभर के लिए थोड़ी-सी निद्रा आती है। जब सारा जगत सोता रहता है, तब मुनिराज जागृत होकर आत्म-चिन्तन करते हैं, बारह भावनाओं का चिन्तन करते हैं।

इन भावनाओं के पीछे सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान का जोर है। इनके बिना सच्ची भावना या सच्चा वैराग्य नहीं होता। भगवान-आत्मा सदा ज्ञान और आनन्दस्वरूप है। उसमें दृष्टि लगाकर स्थिर होना ही आत्महित का मार्ग है। स्वभाव के लक्ष्यपूर्वक इन बारह भावनाओं का चिंतन वैराग्य और आनन्द को उत्पन्न करने वाला है। सम्यग्दर्शन होने के बाद मुनि होने के लिए तथा मुनि होने के बाद चित्त को एकाग्र करने के लिये ये बारह भावनाएँ भाना चाहिए। ये वैराग्य की माता हैं, आनन्द की जननी हैं - ऐसा पूर्वाचार्यों ने कहा है। उन्हीं का अनुसरण करके पंडित दौलतरामजी ने इस छहढाला की रचना की है। सम्यग्दर्शन के बाद अतीन्द्रिय आनन्द के प्रचुर अनुभववाली मुनिदशा प्रकट होती है। सम्यग्दृष्टि की अपेक्षा श्रावक को और श्रावक की अपेक्षा साधु को अतीन्द्रिय आनन्द के वेदन की प्रचुरता रहती है। इन्द्रों और चक्रवर्तियों को भी वैसा आनन्द नहीं है, जैसा आनन्द वन-जंगल में वास करने वाले मुनिवरों को आत्मा के आश्रय से प्रकट होता है। वे महाव्रती, रत्नत्रयधारी मुनिराज बड़भागी हैं, महान् पुरुषार्थी हैं; क्योंकि वे भव और भोग से उदासीन होकर मोक्ष के निकट पहुँच गये हैं। उन महाभागियों की क्या बात कहें, उनके महान आनन्द की क्या बात कहें ? आत्मा स्वयं अतीन्द्रिय आनन्द की भूमि है, आनन्द का धाम है; उसमें लीन होने वाले मुनियों

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

को महान आनन्द की प्राप्ति होती है। ऐसे मुनिराज वैराग्य की दृढ़ता के लिए जैसी भावना भाते हैं, उसका यहाँ वर्णन चल रहा है।

जिसे सम्यग्दर्शन ही नहीं है, उसे तो धर्म हो ही नहीं सकता, तो श्रावकपना या मुनिपना कैसे होगा? जिसमें से अतीन्द्रिय आनन्द प्रकट होता है, ऐसे आत्मा को जानकर जो उसमें एकाग्र होते हैं वही श्रावक या मुनि कहलाते हैं।

अहो! मुनिराज तो इन्द्रों द्वारा भी वंदनीय हैं, वे परमेष्ठी में सम्मिलित हैं। 'णमो लोए सव्व साहूंण'- इस पद में जिन्हें नमस्कार किया जाता है, वे साधु कैसे होंगे? वे तो गहरी डुबकी लगाकर अतीन्द्रिय आनन्द के समुद्र में समा जानेवाले होंगे। उन्हें यहाँ बड़भागी या महाभाग्यवान कहकर उनका बहुमान किया है। जिनके पास बहुत पैसा है या जो प्रधान बन गया है, उसे यहाँ भाग्यवान नहीं कहा; परन्तु जिसे धर्म का वैभव प्रकट हुआ है, उसी को यहाँ भाग्यशाली कहा है। यद्यपि सम्यग्दृष्टि भी परमार्थ से महाभाग्यशाली है। उसने सम्यक्त्व में भी अपूर्व अचिंत्य पुरुषार्थ किया है; तथापि मुनियों को तो उससे भी अधिक तीव्र पुरुषार्थ होता है और आनन्द का प्रचुर वेदन होता है। अहो! ऐसे मुनियों के धर्मवैभव की क्या बात कहें! वे सचमुच ही महाभाग्यशाली हैं, परम सुखी हैं।

आत्मा स्वयं अतीन्द्रिय है; क्योंकि राग या इन्द्रियों के द्वारा उसका ग्रहण नहीं होता या इन्द्रियों का अतीन्द्रिय आत्मा में प्रवेश नहीं होता। भगवान आत्मा भी अतीन्द्रिय ज्ञान द्वारा अनुभव में आता है। उसे जानने वाले सम्यग्दृष्टि धर्मात्मा जगत के पाँच इन्द्रियों के किसी भी विषय में सुख नहीं मानते। ऐसा धर्मात्मा होने पर भी धर्मी गृहस्थ को विषयों में अनन्तानुबंधी के अतिरिक्त किंचित् आसक्ति भी रहती है। यहाँ तो उससे भी आगे बढ़कर जिन्होंने वैराग्य भावना की दृढ़ता द्वारा विषयों की अल्प

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

आसक्ति कभी तोड़ दी है, उन मुनियों की वैराग्य भावना की बात चल रही है। ये भावनाएँ सुख की सहेली हैं।

अहा ! जिनकी परिणति आत्मा के अलावा सम्पूर्ण जगत से उदास है, ऐसे मुनिराज वैराग्य की वृद्धि तथा वस्तुस्वरूप का बारम्बार चिंतन करते हैं। जिसे आत्मा के स्वरूप की खबर नहीं है, जो बाह्य विषयों में तथा राग में ही सुख मानता है, ऐसे अज्ञानी को सच्चा वैराग्य नहीं होता। सम्यग्दृष्टि ने अपने अतीन्द्रिय आनन्द का स्वाद चखा है, वह उसी को सुखरूप मानता है, बाह्य विषयों में तथा राग में सुख नहीं मानता। यहाँ तो मुनिदशा के महावैराग्य की ऊँची बात है।

जो पुण्य-पाप का ही अपना स्वरूप मानकर राग में अटक रहा है, उसे कैसा वैराग्य और कैसा पुरुषार्थ ? ऐसे अज्ञानी को तो पुरुषार्थ रहित 'क्लीव' अर्थात् नपुंसक कहा है। जिसने अपनी चेतना को पुण्य-पाप रूप समस्त राग से भिन्न जाना, उसी को सच्चा वैराग्य और पुरुषार्थ होता है। ऐसे वीतरागी चेतनावाले मुनिराज (सम्यग्दृष्टि गृहस्थ भी) महापुरुषार्थी हैं। वे सदा चैतन्यस्वभाव के चिन्तनपूर्वक वैराग्यमयी बारह भावनाएँ भाते हैं।

इन भावनाओं में वस्तु के स्वरूप का यथार्थ चिन्तन है, कोई कल्पित विचार नहीं है। वस्तु-स्वरूप के यथार्थ चिन्तन से ही वीतरागभाव उत्पन्न होता है जो कि संवर का कारण है; इसलिये ये भावनायें सभी को भाना चाहिए। बड़े-बड़े आचार्यों ने अनेक शास्त्रों में इन बारह अनुप्रेक्षाओं का वर्णन किया है।

आत्मा स्वयं आनन्दस्वरूप है — ऐसा अनुभव होने पर पुण्य-पाप, राग-द्वेष में एकत्वबुद्धिरूप मिथ्या मान्यता टूट जाती है, अपरिमित राग-द्वेष छूट जाते हैं और अनन्त संसार के कारण का अभाव हो जाता है। ऐसा सम्यग्दृष्टि यद्यपि अभी गृहस्थ है, तथापि मोक्षमार्गी है। जब उसे स्वरूप

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

में और अधिक लीनता होती है, तब उसकी अव्रत सम्बन्धी कषायें भी छूट जाती हैं और पंचमगुणस्थान के योग्य शुद्धि सहित व्रतादि प्रगट हो जाते हैं। यह श्रावक भी बारह भावनायें भाता है तथा स्वरूप में विशेष एकाग्रता होने पर उसे बाह्यपरिग्रह की ममता छूटकर शुद्धोपयोगरूप मुनिदशा प्रकट होती है। वहाँ संज्वलन के अलावा सभी कषायें छूट जाती हैं अर्थात् संसार और भोगों से एकदम उदासीन परिणाम हो जाते हैं, उन्हें प्रचुर वीतरागता होती है। ऐसे मुनिराजों को कषायों के अभावपूर्वक बारह वैराग्य भावनाओं का उत्तम चिन्तन होता है। यह उन्हीं भावनाओं का वर्णन है।

अहो ! जिन्हें मोह नहीं है, आसक्ति नहीं है, कोई बाह्य परिग्रह नहीं है; जो भव-तन-भोगों से विरक्त हैं तथा चैतन्य के अतीन्द्रिय आनन्द में झूलते रहते हैं — ऐसे बड़भागी मुनिवरों के चरणों में इन्द्र और चक्रवर्ती भी भक्ति से नमन करते हैं। ऐसे मुनिराज भी वैराग्य में वृद्धि के लिए बारह भावनायें भाते हैं। यह संसार तो भय से भरा हुआ है, वैराग्य ही अभयदाता है। भय से बचाने के लिये ये भावनायें भव्यजीवों को आनन्ददायक हैं, माता के समान हैं, इनसे समभावरूपी शान्ति प्राप्त होती है, इसलिए इन्हें अवश्य ही भाना चाहिए।

आत्मभानपूर्वक अतीन्द्रिय आनन्द का स्वाद लेनेवाला कोई राजकुमार, अन्तर में वैराग्य बढ़ने पर माता के पास जाकर दीक्षा लेने की आज्ञा माँगता हुआ कहता है कि हे माता ! मुझे आज्ञा दो कि मैं मुनि होकर स्वरूप की साधना करूँ और केवलज्ञान प्राप्त करके इस संसार-समुद्र से छूटूँ। इसप्रकार जो संसार से उदास होकर बारह भावनाओं को भाते हुए मुनि होता है तथा शुद्धस्वरूप के ध्यान में एकाग्र

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

होता है, उसे अतीन्द्रिय आनन्द का दरिया उछलता है। वाह! धन्य है वह वैराग्य और धन्य है वह मुनिदशा।

उपसर्ग और परीषह के समय भी इन भावनाओं के चिन्तन से वैराग्य में वृद्धि होती है, मार्ग में दृढ़ता होती है तथा समताभावरूप सुख उत्पन्न होता है। जहाँ वैराग्य है, वहीं सुख का समुद्र उछलता है। धर्मी जीव ने अपने स्वभाव के सुख का स्वाद चखा है और रागादि परभावों को दुःखरूप जाना है अर्थात् उसकी परिणति रागादि कषायों से विरक्त हो गई है। बारह भावनाओं द्वारा स्वरूप का चिन्तन करने से उसे वीतरागी समतारूप सुख की धारा उल्लसित होती है।

जो जीव आत्मस्वभाव को जानता है, वही जीव वैराग्य भावनाओं द्वारा मोक्ष सुख को साधता है। अशुभ हो या शुभ सभी राग दुखरूप हैं, सुख तो मेरे चैतन्यस्वभाव की भावना में है। चैतन्यतत्त्व के अलावा दूसरा कोई भी मेरा नहीं है। चैतन्य के अनुभव में ही सुख की उत्पत्ति होती है।— ऐसी भावना द्वारा धर्मी जीव के अन्तर में शान्तरस की अमृतधारा बहती है। जिसप्रकार हवा लगने पर अग्नि भभक उठती है, उसीप्रकार वैराग्य भावना द्वारा चैतन्य की शान्ति उल्लसित हो जाती है। इसप्रकार ज्ञान सहित वैराग्य भावनाएँ सुख की जननी हैं।

इन बारह भावनाओं में चेतना के सन्मुख होने की बात है। अज्ञानी को सच्ची भावनाएं नहीं होतीं। जो पर से भिन्न आत्मा को नहीं जानता वह किसकी भावना करेगा? वैराग्य भावना भी आत्मा के आधार से होती है। आत्मा की सन्मुखता बिना होने वाले मात्र शुभ विकल्पों की मोक्षमार्ग में कोई कीमत नहीं है, वे सब बंध के ही कारण हैं।

'वैराग्य' शब्द नास्ति सूचक है। अपने ज्ञानमय अस्तिस्वभाव को जानकर उसमें एकाग्र होने पर राग की नास्तिरूप सच्चा वैराग्य होता है। ज्ञान-आनन्द आदि अनन्त गुणों से भरपूर आत्मा में एकाग्र होने पर ही

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

पर भावों से वैराग्य होता है और सुख का अनुभव होता है। इस वैराग्य की उग्रता होते-होते केवलज्ञान और मोक्षसुख प्रगट होता है, इसलिए मुमुक्षुओं को बारम्बार भेद-ज्ञानपूर्वक वैराग्य भावना भाना चाहिए।

धर्मीजीव को भेद-ज्ञान होने पर चैतन्य रस का अपूर्व स्वाद आता है, उसे उसकी लगन लगती है..... ऐसी खुमारी चढ़ती है कि वह बारम्बार अन्तर में एकाग्र होकर उसकी भावना करता है, उपयोग को बारम्बार चैतन्य के चिन्तन में जोड़ता है। अरे जीव! तू अपनी वस्तु का चिन्तन छोड़कर पर की चिन्ता करता है, उसमें तो दुख और आकुलता ही है। पर का सम्बन्ध छोड़कर चैतन्य में उपयोग जोड़ने पर वीतरागी समता रूप महान सुख होता है इसलिए ये बारह भावनाएं अवश्य भाना चाहिए।

***

मेरे कब ह्वै वा दिनको सुघरी।
तन बिन वसन असन बिन वन में, निवसों नासादृष्टि धरी॥

पुण्य पाप परसौं कब विरचों, परचों निजनिधि चिरविसरी।
तज उपाधि सजि सहज समाधी, सहों घाम हिम मेघझरी॥

कब थिरजोग धरों ऐसो मोहि, उपल जान मृग खाज हरी।
ध्यान कमान तान अनुभव-शर, छेदों किहि दिन मोह अरी॥

कब तृनकंचन एक गनों अरु, मनिजडितालय शैल दरी।
'दौलत' सत गुरुचरन सैव जो, पुरवो आश यहै हमरी॥

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

अनित्य भावना

अब अनित्य भावना का वर्णन करते हुए पण्डित दौलतरामजी कहते हैं :—

जोबन-गृह-गो-धन-नारी, हय-गय-जन आज्ञाकारी।
इन्द्रिय-भोग छिन थाई, सुरधनु चपला चपलाई॥ ३ ॥

शरीर का यह यौवन, घर, गाय, धन, स्त्री, घोड़ा, हाथी आज्ञाकारी कुटुम्बीजन, सेवक और इन्द्रिय-भोग इत्यादि सभी पदार्थ इन्द्रधनुष अथवा बिजली की चमक के समान क्षणभंगुर हैं, अध्रुव हैं, अनित्य हैं — इसप्रकार उनकी अध्रुवता का विचार करके, उनका आश्रय छोड़ना चाहिए तथा स्वयं के ध्रुव ज्ञानस्वभाव का आश्रय करना चाहिए। यही अध्रुव भावना का तात्पर्य है।

अरे, शरीरादि परपदार्थों के कार्य मैं करता हूँ, उनमें मेरा सुख है, जिसको ऐसी मिथ्या मान्यता होती है तथा आत्मा का भान नहीं होता है, उसको सच्ची वैराग्य भावना कहाँ से जगेगी और वह अन्तर में एकाग्र कैसे होगा? शरीर तो अनित्य स्वभाववाला है; फिर भी मैं उसको बचा लूंगा - ऐसा माननेवाले की देह में मूर्च्छा है, उसे जड़-चेतन का भेदज्ञान नहीं है; इसलिये उसे देह के प्रति सच्चा वैराग्य कभी नहीं होता। अरे भाई! प्रभु! एकबार जड़-चेतन की भिन्नता को लक्ष्य में लेकर विचार तो कर। शरीर में रोगादि हो अथवा निरोगता रहे, उसके तुम मात्र जाननहार हो; परन्तु वे रोगादि तुममें नहीं हैं अथवा तुम्हारे लिये उनका परिणमन नहीं है। ये देह तो अनन्त रजकणों के संयोग से बना पिण्ड है तथा तुम तो चेतन प्रभु हो, तुम अजीव के कर्ता कैसे हो सकते हो और तुम्हारे साथ वे अजीव पदार्थ नित्य कैसे रह सकते हैं? तुम्हारे साथ नित्य रहनेवाला तो तुम्हारा चैतन्यस्वभाव है।

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

लक्ष्मी, शरीर, सुख-दुःख अथवा शत्रु-मित्रजन इत्यादि कोई भी ध्रुव नहीं है, ध्रुव तो एकमात्र उपयोगात्मक जीव है, वही त्रिकाली शाश्वत है। ऐसे स्वभाव को जानकर उसकी भावना करनी चाहिए; क्योंकि वह भावना आनन्दजननी है, वैराग्य की माता है, सुख की सहेली है।

शरीर की युवावस्था क्षणिक है। लोग भरी जवानी में भी हृदयगति रुक जाने से मरते देखे जाते हैं। शरीर-घर-धन-नारी-हाथी-घोड़ा अथवा इन्द्रिय विषयों की अनुकूलता — ये सभी बिजली की क्षणिक प्रभा के समान क्षणभंगुर हैं। पहले हाथी-घोड़ा-रथ इत्यादि वैभव होता था; आजकल मोटर, बंगला, टीवी इत्यादि वैभव माने जाते हैं, वे सभी शरीर की भांति अध्रुव हैं, उनमें कहीं सुख नहीं है। सुख तो आत्मा के ध्रुव स्वभाव में भरा है। शरीर के परमाणु भले नित्य हैं; परन्तु उनसे बना शरीर और शरीर के साथ जीव का सम्बन्ध, कायम रहने वाला नहीं है; अथवा जीव का शरीर के साथ सम्बन्ध हो तो भी उसमें कुछ सुख नहीं है। अन्तरंग स्वरूप में ही सुख है, बाहर में कहीं सुख नहीं है।

देह की क्षणभंगुरता देखकर सनतकुमार चक्रवर्ती को वैराग्य हो गया था। उनके अद्भुत रूप की प्रशंसा सुनकर उन्हें दो देव देखने को आये थे। स्नान करते हुए चक्रवर्ती का सौन्दर्य देखकर उन्हें बहुत आश्चर्य हुआ कि वाह, कितना सुन्दर रूप है, तब सनतकुमार बोले कि हे सज्जनो! अभी तो मैंने वस्त्राभूषण पहने ही नहीं, जब वस्त्रालंकार से सुशोभित होकर ठाठ-बाट से मैं राज दरबार में बैठूँगा, तब मुझे देखना मैं कितना सुन्दर लगूँगा। जब राजदरबार में बैठे हुए सनतकुमार को उन्होंने देखा तो उन्हें अत्यन्त निराशा हुई। चक्रवर्ती ने पूछा, आप लोगों को मेरा रूप देखकर प्रसन्नता क्यों नहीं हुई। देवों ने कहा कि हे राजन्! तुम्हारा औदारिक शरीर है, क्षणभर में उसमें रोग लग जाते हैं। कुछ देर

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

पहले जब हमने तुम्हारा शरीर देखा था, तब वह निरोग था, वैसा अब नहीं है। अब उसमें कोई महारोग और सड़ान्ध लग गयी है, अतः पहले जैसी उसकी शोभा नहीं रही। शरीर की ऐसी क्षणभंगुरता देखकर राजा तुरन्त वैराग्य प्राप्त करता है और चक्रवर्ती का राज्य छोड़कर मुनिदशा धारण करता है।

कुछ काल बाद मुनिदशा में आत्मा के आनन्द में झूलते हुए उन सनतमुनिराज के शरीर में अचानक कोढ़ हो जाता है। उन्हें अपने थूक से ही उस रोग को मिटाने की दैवीय लब्धि थी; परन्तु उस पर उनका लक्ष्य नहीं था। अरे, आत्मा में यह रोग कैसा? आत्मा में तो भवरोग है, उसे रत्नत्रय-औषधि द्वारा वे मिटा ही रहे थे। शरीर के प्रति अत्यन्त उदासीन रहते थे। तब देव आकर वैद्य का रूप धारण करके कहते हैं कि हे प्रभो! आप आज्ञा दो तो उपचार द्वारा हम इस रोग को मिटा दें। तब वैरागी मुनिराज कहते हैं कि हे भाई! मुझे तो आत्मा का भवरोग मिटाना है। यह शरीर का रोग तो मेरे थूक लगाने मात्र से मिट जाने वाला है; परन्तु मुझे तो वीतराग भावरूप औषधि द्वारा भवरोग मिटाना है। यह सुनकर देववृन्द बहुत लज्जित हुए तथा कहने लगे कि — हे स्वामी! भवरोग मिटाने की दवाई हमारे पास नहीं है, भवरोग मिटाने के लिए तो आप ही सच्चे वैद्य हो। आपकी यह अलौकिक वीतरागता धन्य है।

देखो, जिसको देखकर देवों को भी आश्चर्य होता था — ऐसा शरीर का अद्भुत रूप था, उन्हें कोढ़ होने पर उस रूप की रंचमात्र चिन्ता न हुई; बल्कि वे तो भेदज्ञान द्वारा देह के रूप से भिन्न अपने अतीन्द्रिय स्वरूप को जानते थे; इसलिए वैराग्यपूर्वक अनित्य भावना भाते थे। उन्होंने देह से अत्यन्त उदास होकर स्वरूपलीनता द्वारा आत्महित कर लिया। श्रीमद् राजचन्द्रजी आत्मज्ञानी सत्पुरुष थे, वे अनित्य भावना में लिखते हैं कि —

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

विद्युत लक्ष्मी प्रभुता पतंग, आयुष ते तो जल ना तरंग।
पुरंदरी-चाप अनंग रंग, शुं राचिये ज्यां क्षणनो प्रसंग॥

देखो, सोलह वर्ष की छोटी उम्र में उन्होंने कैसी भावना भाई है। उन्होंने बारह भावना लिखी हैं, उसमें वे पहली अनित्य भावना में कहते हैं कि अरे, इस संसार में लक्ष्मी तो बिजली के समान चंचल है; प्रभुता, प्रतिष्ठा, आदि तो पतंग के कच्चे रंग के समान उड़ जानेवाली है तथा आयु पानी की तरंग के समान प्रतिपल घट रही है। विषय-भोग की लालसा इन्द्रधनुष के समान देखते-देखते ही नष्ट हो जानेवाली है। अरेरे ! ऐसे क्षणभंगुर प्रसंगों में क्यों रमना? जो संयोग टिकते नहीं तथा जिनमें से कभी सुख नहीं आता, ऐसे संयोगों से मोंह क्या करना? देहादिक का संयोग छूट जाता है तो भी शाश्वत टिकनेवाले अपने चैतन्यतत्त्व को समझकर उसमें एकाग्र होने की भावना भाना चाहिए।

जिसप्रकार आकाश के बादलों में कोई महल बनाकर नहीं रहता है; क्योंकि लोग जानते हैं कि काफी घनघोर घटा क्षण में दिखकर दूसरे ही क्षण विलय होकर अदृश्य हो जाती है। इसके आधार से महल नहीं बंधता है। उसीप्रकार संयोगों के बादल क्षण में अचानक इकट्ठे होते हैं और दूसरे ही क्षण में नष्ट हो जाते हैं। इनके आधार से कभी सुख का महल नहीं बनता है।

अनेक राजा आकाश में गिरते तारे को देखकर अथवा बादलों को बिखरते देखकर संसार से विरक्त हुए हैं। महाराज हनुमान ने आकाश में तारा गिरता देखकर वैराग्य प्राप्त किया। महाराज ऋषभदेव ने नीलांजना देवी की देह की क्षणभंगुरता देखकर वैराग्य प्राप्त किया।

अरविन्द नाम के राजा ने भी बादलों को बिखरते देखकर वैराग्य प्राप्त किया, उनकी कथा पुराणों में इसप्रकार आती है कि जब दुष्ट कमठ

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

ने अपने भाई मरुभूति को मार डाला तो यह सुनकर राजा अरविन्द उदासचित्त होकर राजमहल की छत पर बैठ गये और वैराग्य का विचार करने लगे, तभी आकाश में सुन्दर रंग-बिरंगे बादलों के इकट्ठे होने से एक सुन्दर जिनमंदिर का दृश्य बन गया। उसकी अद्भुत शोभा देखकर राजा को ऐसा विचार आया कि मैं भी अपने राज्य में ऐसा ही सुन्दर जिनमंदिर बनवाऊँगा। ऐसा विचार करके उन्होंने बादलों के मन्दिर के चित्र को बनवाने की तैयारी की; परन्तु तब तक बादल बिखर गये और उस अद्भुत मंदिर की रचना अदृश्य हो गयी।

राजा यह घटना देखकर दंग रह गया। उसकी चेतना जाग गई। अरे! ऐसा अस्थिर संसार, ऐसे क्षणभंगुर संयोग। बादलों की तरह ही राजपाट, महल, रानी, शरीर इत्यादि सभी संयोग भी असार और विनाशीक हैं। अरे, ऐसे अस्थिर इन्द्रिय-विषयों में दिन-रात मगन रहना जीव को शोभा नहीं देता। यह शरीर क्षणभंगुर है और भोग तो दुःख ही देनेवाले हैं। जिसे स्वयं का हित करना हो, उसे इस मोह में जीवन गंवाना योग्य नहीं है। जिसप्रकार यह बादल क्षणभर की देर किये बिना बिखर गये, उसीप्रकार अब मैं भी एक पल भी गंवाये बिना, यह संसार छोड़कर, मुनि होकर आत्मध्यान द्वारा कर्म के बादलों को बिखेर कर नष्ट करूँगा। — इसप्रकार वैराग्यभावनापूर्वक वे अरविन्द राजा राजपाट छोड़कर वन चले गये और दिगम्बर गुरु के पास दीक्षा लेकर मुनि हो गये। भगवान पार्श्वनाथ के जीव ने हाथी की पर्याय में इन्हीं मुनिराज के उपदेश से सम्यग्दर्शन प्राप्त किया था।

एक मनुष्य के खेत खूब पके थे और तैयार खड़े थे। आलस्य के कारण उसने सोचा, अगले दिन धान उखाड़ लूँगा, तभी एकाएक बादल आये और मूसलाधार बारिश करने लगे। सारा अनाज गीला हो गया, थोड़ी देर बाद वे बादल भी बिखर गये। शरीर की भी ऐसी क्षणभंगुरता

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

है। भरी जवानी में हृष्ट-पुष्ट शरीर होता है, तब तो ऐसा विचार करता है कि बुढ़ापे में आत्महित करूँगा; परन्तु तब तक तो कालरूपी बादल आकर शरीर के रजकणों को क्षण में बिखेर देता है। इसका क्या भरोसा? उस किसान ने भी बहुत विचार किये थे कि अनाज पक गया है, इसे बेचूँगा, खाऊँगा और सुखी रहूँगा। पर संयोगों का क्या भरोसा, दूसरे ही क्षण पता नहीं क्या से क्या हो जाये? लड़का जवान होता है, तब पिता विचार करता है कि यह धन कमाने लगे तो इसकी शादी कर दूँ जिससे बुढ़ापे में चैन से जीवन कटेगा; परन्तु तबतक तो आयु पूरी होने पर लड़का चला जाता है। कुछ वर्षों पहले बिहार में एक करोड़पति मनुष्य, जिसके बंगला, बाग, मोटर इत्यादि वैभव का ठाठ-बाट तथा स्त्री, पुत्रादिक सभी थे, एकबार शाम को घूमने गया। घण्टे दो घण्टे घूमकर जब वह वापिस लौटकर आया तो उसे घर ही नहीं मिला। तब वह आश्चर्यचकित होकर देखता है कि सभी पदार्थ कहाँ चले गए? बंगला, बाग-बगीचा, परिवार एक क्षण में कहाँ चले गये ..... कुछ भी नहीं दिखता ..... क्या हुआ .....क्या भूकम्प होने से सब कुछ जमीन में समा गया? स्वयं तो अकेला रह गया, जो अकेला था वह अकेला रह गया, संयोग भिन्न ही थे, इसलिए भिन्न हो गये।

यहाँ कोई पूछता है कि ये संयोग नष्ट जो जायेंगे — यह बात तो ठीक है; परन्तु जबतक वे हमारे पास हैं, तबतक तो उनसे सुख लेने दो?

अरे भाई ! ये संयोग तुम्हारे पास रहें, तब भी उनमें तुम्हारा सुख नहीं है। तुम तुममें और संयोग संयोग में हैं, संयोग तुममें नहीं हैं और तुम संयोग में नहीं हो; तो इनमें से तुम्हारा सुख कैसे आ सकता है ? तुम्हारा सुख तुममें होगा कि संयोग में ? क्या सुख तुम्हारा स्वयं का स्वभाव नहीं है ? क्या तुम्हारा सुख संयोगों में से आता है ? हे जीव !

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

तू भ्रम मत कर, तेरा सुख तो अन्तर में है, वह बाहर खोजने से नहीं मिलेगा।

इसप्रकार कुछ दृष्टान्त दिए हैं; परन्तु ऐसे बहुत प्रसंग नितप्रति बनते दिखाई देते हैं। सभी संयोग क्षणभंगुर हैं। जीव के साथ कोई संयोग बना नहीं रहता। स्वभाव तो कायम रहता है; परन्तु संयोग कायम नहीं रहते। धर्मी तो ऐसा जानता है कि —

एक मेरा आतमा थिर ज्ञानदर्शन युक्त है।
शेष सब संयोग लक्षण भाव मुझसे भिन्न हैं॥

पुण्य के फलरूप इन्द्रपद की विभूति का संयोग भी क्षणभंगुर है और आत्मा से भिन्न है। भले असंख्यात वर्ष तक वह संयोग साथ रहे; परन्तु उसमें मेरा रंचमात्र भी सुख नहीं है — ऐसा सम्यग्दृष्टि इन्द्र जानता है। संयोग रहित चैतन्य का अतीन्द्रिय सुख उसे प्राप्त है; अतः वह पुण्य के फल में भी ममत्व नहीं करता। अरे! राग का फल कभी शाश्वत होता है क्या? क्या इसमें आत्मा का सुख है? शाश्वत चैतन्य स्वभाव में से होनेवाली सुखदशा शाश्वत रहती है। संयोग अथवा राग शाश्वत नहीं रहते। अरे! जहाँ तीर्थंकरों का शरीर अथवा समवशरण भी शाश्वत नहीं है, तब अन्य की क्या बात करें? अतः हे जीव! संयोगों की अध्रुवता, अनित्यता विचार करके संयोगों से भिन्न नित्य-उपयोगस्वरूप ध्रुव आत्मा की दृष्टि कर, बार-बार उसके चिन्तन में उपयोग लगा।

सम्यग्दृष्टि जीव नियम से ज्ञान-वैराग्यसम्पन्न होता ही है। वह बारह भावनाओं द्वारा पदार्थों के स्वरूप का चिन्तन करके वैराग्य की पुष्टि करता है और परिणाम में एकाग्रता बढ़ाता है। मैं ज्ञानानन्दस्वरूप शुद्धात्मा हूँ, पुण्य-पाप के भाव क्षणिक व दुःखरूप हैं, चैतन्यजाति से भिन्न हैं। जब पुण्य-पाप ही मेरे नहीं हैं तो प्रगटरूप से मुझसे भिन्न ऐसे शरीरादि अचेतन

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

संयोगों के साथ मेरा कैसा नाता?— ऐसी भिन्नता का जिसको भान होता है, वही सच्ची वैराग्यभावना भा सकता है। क्रोधादि आस्रव भावों को अध्रुव, दुःखरूप, जीव से भिन्न विचारने का फल यह आया कि आत्मा उनसे भिन्न ध्रुव ज्ञानस्वरूप में एकाग्र होकर सुख का अनुभव करने लगा। यही अध्रुवभावना का फल है। इसीप्रकार सभी भावनाओं का यथायोग्य फल जानना चाहिए। संवरभावना अथवा धर्मभावना का फल यह है कि आत्मा का संवर तथा धर्मरूप से परिणमित हो जाना। जवानी को क्षणिक कहा है, उसीप्रकार शरीर की बाल्यावस्था और वृद्धावस्था भी क्षणिक हैं। शरीर की उन सभी दशाओं से आत्मा भिन्न है। भगवान सिद्ध जिसप्रकार अशरीरी, चैतन्यमूर्ति हैं; उसीप्रकार मेरा आत्मा भी अशरीरी चैतन्यमूर्ति है। हे भाई ! इसप्रकार तू अपने आत्मा की सम्हाल कर। मोह से शरीर की सम्हाल में तो अनन्तकाल गंवा दिए; फिर भी सारी मिथ्या-मेहनत निष्फल हो गई। अनन्तकाल में यह जीव एक भी शरीर को अपना बना के नहीं रख सका। यदि अपने चैतन्यतत्व को संभालने का उद्यम करे तो उसके फल में सादि-अनन्त काल को मोक्षसुख प्रगट होगा, उसके लिये ये भावनाएँ हैं।

माता के उदर में आये बालक को, माता तो बाद में गोद में लेती है, पहले तो अनित्यता ने अपनी गोद में ले लिया है। जन्म से पहले ही उसे अनित्यता लागू हो गई है। जन्म होने के बाद वह लड़का है कि लड़की, यह देखने के लिए उसे हाथ में लें, इसके पहले ही उसकी आयु में से असंख्य समय कम हो गए। अथवा उसकी आयु में से नव मास तो कम हो ही गए; परन्तु चिदानन्दस्वरूप आत्मा की कोई आयु नहीं है, वह तो अनादि-अनन्त, जीता-जागता तत्त्व है। जागता हुआ जीव सचेत है, वह कहाँ जाए ? अर्थात् उसका कभी मरण नहीं होता। अन्तर में नजर डालते ही आत्मा प्राप्त हो जाता है। अहा, मेरे चिदानन्द आत्मा का मुझे

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

कभी वियोग नहीं होता, वही मुझे शरण है, वही मेरे लिये ध्रुव है, मैं उसी में एकाग्रता द्वारा मोक्ष को साधता हूँ — ऐसा धर्मी जीव जानता है।

आज कोई बड़ा राजा हो और दूसरे दिन भिखारी होकर भटके, सुबह राज्याभिषेक हुआ हो और शाम को उसी की चिता जले, कोई आज भिखारी हो और कल बड़ा राजा हो जाय — यह सभी संसार के पुण्य-पाप की दशा है, उसमें धर्मीजीव को जरा भी अपनापन नहीं है। अरे ! संयोग से क्या आत्मा की शोभा है ? आत्मा संयोग से पार वस्तु है। वह संयोग से नहीं जीता है। यदि वह संयोग से जीता हो तो संयोग छूटते ही आत्मा का नाश हो जाय; परन्तु ऐसा होता नहीं है। सिद्ध भगवंत संयोग बिना ही सादि-अनन्त सुखमय जीवन जीते हैं। हे भाई ! तेरा आत्मा भी ऐसा ही है। ऐसे महान आत्मा को युवा शरीर में, मकान में, स्त्री में, पैसा में अथवा परिवार इत्यादि में मोह नहीं शोभता है, दीनता नहीं शोभती है। पर संयोगों द्वारा अपने को बड़ा मानना वास्तव में दीनता है, पराश्रय है। ऐसा वस्तुस्वरूप विचारकर, सभी संयोगों के प्रति उदास होकर, अपने स्वरूप की अगाध महिमा के बारम्बार चिन्तन से वैराग्य में वृद्धि करके अपने में एकाग्र होना चाहिए, इसी में परमसुख है और यही अनित्य भावना का सच्चा फल है।

इसप्रकार अनित्यभावना का वर्णन पूरा हुआ।

***

गुरु कहत सीख इमि बार-बार, विषसम विषयन को टार-टार।
इन सेव अनादि दुख पायो, जनम मरन बहु धार-धार॥ १॥
कर्माश्रित बाधा जुत फांसी, बन्ध बढ़ावन द्वन्दकार।
ये न इन्द्रिके तृप्तिहेतु जिमि, तिस न बुझावत क्षारवार॥ २॥
इनमें सुख कलपना अबुधके, बुधजन मानत दुख प्रचार।
इन तजि ज्ञानपियूष चख्यौ तिन, 'दौल' लही भव वार पार॥ ३॥

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

अशरण भावना

अब अशरण भावना का वर्णन करते हुए पण्डित दौलतरामजी कहते हैं :—

सुर असुर खगाधिप जेते, मृग ज्यों हरि, काल दले ते।
मणि-मंत्र-तंत्र बहु होई, मरतैं न बचावे कोई॥ ४॥

जिसप्रकार सिंह पशुओं को मार डालता है, उनको कोई शरण-सहाय नहीं है; उसीप्रकार काल अर्थात् मृत्युरूपी सिंह समस्त संसारी जीवों को मार डालता है। भले इन्द्र हों, असुरेन्द्र (भवनवासी इत्यादि के इन्द्र) हों, विद्याधरों का राजा हो अथवा चक्रवर्ती इत्यादि कोई भी महापुरुष हों, उनको भी कालरूपी सिंह मार डालता है, उनको कोई नहीं बचा सकता है। जीते अथवा मरते हुए जीवों को अपने धर्म के अलावा अन्य कोई शरण नहीं है। जगत में अनेक मणिरत्न हैं — जैसे चिन्तामणि, गरुड़मणि, पारसमणि इत्यादि हैं; प्राण-रक्षा के लिए अनेक मंत्र हैं, उनमें भी बहुत तंत्र, विधि-विधान इत्यादि उपाय हैं; परन्तु जीव को मरण से बचाने में वे कोई भी समर्थ नहीं हैं; हाँ, यदि जीव रत्नत्रय के मंत्र द्वारा मोक्ष को साधता है, तो सिद्धपद प्राप्त करता है और फिर उसका जन्म अथवा मरण नहीं होता है। मरण से बचने के लिए रत्नत्रयरूपी वीतरागी मंत्र के अलावा अन्य कोई शरण नहीं है; अतः हे जीवो ! तुम रत्नत्रय की आराधना करो, ऐसा वीतरागी संतों का उपदेश है।

अशरण भावना भाते हुए श्रीमद् राजचन्द्रजी मात्र सोलह वर्ष की आयु में लिखते हैं कि —

सर्वज्ञनो धर्म सुशर्ण जाणी, आराध, आराध, प्रभाव आणी।
अनाथ ऐकांत सनाथ थाशे, ऐना बिना कोई न बाह्य रहाशे॥

शुद्धात्मा की अनुभूति अथात् आत्मस्वभाव का सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्ररूप वीतरागभाव ही सर्वज्ञदेव के द्वारा कहा गया धर्म है, वही मोक्षमार्ग है और वही जीव को सच्चा शरणरूप है — ऐसा जानकर हे

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

जीव ! तू उस धर्म की महिमापूर्वक आराधना कर, अत्यन्त भक्ति से उसकी उपासना कर। संसार में सर्वथा अनाथ, शरणहीन तू इस वीतरागी धर्म की आराधना द्वारा सनाथ हो जायेगा। तुझे परमसुख प्राप्त होगा। इस भव में अथवा परलोक में सर्वज्ञ का यह धर्म ही तुझे शरणरूप होगा। यही तेरा हाथ पकड़कर तुझे भवसमुद्र से पार लगाएगा इसके अलावा दूसरा कोई तेरा हाथ नहीं पकड़ेगा, तुझे शरणरूप नहीं होगा। देखो तो जरा, छोटी उम्र में भी श्रीमद् राजचन्द्रजी ने कैसी सरस भावना लिखी है। वस्तुस्वरूप की ऐसी भावना का बारम्बार चिन्तन करना चाहिए। मुनिराज भी ऐसी भावना द्वारा अपने चित्त को एकाग्र करते हैं।

अज्ञानी लोग भगवान सर्वज्ञ वीतराग देव को भूलकर जगत के अनेक मिथ्या देवी-देवताओं को मानते हैं तथा इस भ्रम में रहते हैं कि वे हमें कुछ दे देंगे। ऐसे लोगों को यहाँ समझाया जा रहा है कि अरे भाई ! स्वर्ग के देवी-देवता और इन्द्र भी इस संसार में अशरण है। वे तुझे क्या शरण देंगे ? बड़े से बड़े राजा-महाराजा को भी मृत्यु आने पर कोई नहीं बचा सकता।

अभी-अभी भारत के प्रधानमंत्री लालबहादुर शास्त्री का क्षणभर में हार्टफेल हो गया। बड़े-बड़े डॉक्टर भी उन्हें नहीं बचा सके। अंतिम समय में वे मात्र इतना बोल पाये कि मुझे कुछ तकलीफ हो रही है। इसके बाद पाँच-सात मिनट में ही खेल खत्म हो गया। उस समय उच्चकोटि के अनेक डॉक्टर वहाँ उपस्थित थे। जब इन्द्र और जिनेन्द्र भी आयु को घटा-बढ़ा नहीं सकते तो डॉक्टर की क्या सामर्थ्य है ? जिस क्षण में, जिस क्षेत्र में तथा जिस विधि से आयु पूरी होने वाली है, वह उसी क्षण में, उसी क्षेत्र में, उसी विधि से पूरी होगी, उसे कोई नहीं बदल सकता।

यहाँ अशरण भावना चल रही है। जिसप्रकार सिंह के मुख में पड़े हुए हिरण को कोई शरणभूत नहीं है, उसीप्रकार कालरूपी सिंह के मुख में पड़े हुए संसारी जीव के मरण के समय अथवा संयोग के, बिछुड़ते

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

समय कोई शरणभूत नहीं है। भाई ! संयोग का स्वभाव ही अशरण है। जब उसका वियोग निश्चित है तो फिर वह शरणभूत कैसे हो सकता है? अपने चिदानन्द ध्रुवस्वभाव की खबर न हो तो यह जीव किसकी शरण लेगा? हे जीव ! तेरा असंयोगी चिदानन्दस्वभाव शास्वत है, उसमें अपनी परिणति को एकाग्र कर; क्योंकि वही शरणभूत है, उसका कभी भी वियोग नहीं होगा। इसके अलावा बाहर के सभी संयोग अशरण हैं। जितने भी मंत्र-तंत्र-औषधि आदि संयोग हैं, वे भी पुण्य का उदय होने पर मिलते हैं तथा फलते हैं, तो भी वे जीव को मरण से नहीं बचा सकते। मरण से बचना हो तो अपने स्वभाव की शरण ले, क्योंकि स्वभाव की शरण लेने पर मोक्षदशा प्रकट होती है।

अरे रे! इस संसार में अनादिकाल से अनन्त जीव प्रतिक्षण भावमरण कर रहे हैं और दुःखी हो रहे हैं, उन्हें कोई शरण नहीं है। अनादि से परपदार्थों को अपना मानकर अज्ञानी जीव स्वयं मोहभाव से मर रहे हैं। अपना जीवन वीतरागी ज्ञान और आनन्दमय शाश्वत जीवन होना चाहिए; परन्तु अज्ञानी उसका नाश करके अज्ञान और रागद्वेष द्वारा भावमरण कर रहे हैं।

हे भाई ! यह दुर्लभ जैनधर्म प्राप्त करके अब तू अंतर में विचार कर कि तेरा सच्चा स्वरूप क्या है और तुझे कौन शरणभूत है? मरण के समय चाहे जैसे इन्जेक्शन हों, आक्सीजन हो, बड़े-बड़े डाक्टर हों, ऊँची-ऊँची दवाइयाँ हों और परिवार के प्रिय सदस्य भी उपस्थित हों; परन्तु कोई भी शरण देनेवाला अर्थात् बचानेवाला नहीं है।

बादशाह सिकन्दर की घटना सभी को मालूम है। मृत्यु के समय उसने महसूस किया कि यह सम्पत्ति का ढेर, वैद्य-हकीम तथा सेना के बड़े-बड़े योद्धा आदि कोई भी मुझे नहीं बचा सकता; इसलिए उसने आदेश जारी किया कि मृत्यु के पश्चात् मेरा जनाजा वैद्यों और हकीमों के कंधों पर निकाला जाये तथा उसके साथ-साथ मेरी सारी सम्पत्ति भी रखी जाये

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

और मेरे दोनों हाथ कफन के बाहर निकाल दिये जायें; ताकि सारी दुनियाँ देख सके कि सिकन्दर बादशाह को भी मृत्यु आने पर कोई नहीं बचा सका।

यह तो साधारण वैराग्यपोषक लौकिक दृष्टान्त है, उसे तो वस्तुस्वरूप की खबर ही नहीं थी; परन्तु यहाँ वस्तुस्वरूप के चिन्तनपूर्वक वैराग्य भावना का वर्णन है। अज्ञानी जीव परपदार्थों में मेरा मेरा इसप्रकार ममत्वभाव करता है; परन्तु ज्ञानी मानता है कि मेरा तो एक ज्ञायकभाव है, इसके अलावा कुछ भी मेरा नहीं है। ऐसी भावना द्वारा स्वरूप में एकाग्र होने पर संवर-निर्जरा और मोक्ष होता है। ऐसी भावना के बिना करोड़ों रुपये भी हों, तो भी वे किस काम के हैं? अपनी ज्ञान और आनन्दमयी महान निधि के भान बिना इस जीव को और कोई जन्म-मरण से नहीं बचा सकता।

बहुत से अज्ञानी लोग जप-तप-मंत्र-डोरा इत्यादि पदार्थों से धन प्राप्त करना चाहते हैं; परन्तु वह तो पुण्य के उदय के अनुसार मिलता है। यदि किसी जीव को पूर्वोक्त पुण्य के उदय से लक्ष्मी मिल जाये तो भी वह जीव को शरणभूत नहीं है। अपने चैतन्यतत्त्व के श्रद्धा, ज्ञान और आचरण के अलावा बाकी सब अशरण हैं। सिंह के मुख में पड़ा हुआ हिरण तो कदाचित् बच भी सकता है; परन्तु कालरूपी सिंह के मुख में पड़े हुए जीव को मरण से कोई नहीं बचा सकता, उसे तो धर्म ही एकमात्र शरणभूत है।

अज्ञानी जीव परपदार्थों में ममत्वबुद्धि और कर्तृत्वबुद्धि करके व्यर्थ ही दुःखी होता है। अरे! इस संसार में सभी जीव मरण के मुख में पड़े हुए हैं तो कौन किसे शरण दे सकता है? भाई! तू वैराग्य भावनाओं द्वारा आत्मसम्मुख होकर आत्मा की ही शरण ले, वैराग्य ही शरणभूत है; क्योंकि उसमें कोई भय नहीं है, वह तो अभय है।

वस्तुस्वरूप के अनुसार ये बारह भावनायें जीव को माता के समान

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

शरण देने वाली हैं। जैसे भयभीत बालक माता की साड़ी का पल्लू पकड़ता है, वैसे संसार से भयभीत मुनिराज भी वैराग्य-जननी बारह भावनाओं का अवलम्बन लेते हैं। जीवन में तथा मृत्यु के समय भी ये भावना ही शरणभूत हैं। अरहन्त, सिद्ध और साधु को व्यवहार से शरणभूत कहा जाता है; परन्तु वे कहते हैं कि हे जीव ! तू अपने स्वभाव की शरण ले; केवली भगवान द्वारा कहा गया धर्म अर्थात् सम्यक्-दर्शन-ज्ञान और चारित्ररूपी वीतराग-विज्ञान ही सच्चा शरण है और वह आत्मा में ही है। आत्मा के अलावा अन्य कहीं भी शरण नहीं मिल सकती।

मृत्यु के समय अरहंत-सिद्ध का नाम जपने से, उनका स्मरण करने से शुभभाव होता है; परन्तु अन्तर में आत्मा के भान के बिना भव-भ्रमण से छुटकारा नहीं मिलता। यहाँ तो भव-भ्रमण का अंत करने की बात है। तेरी मृत्यु की तैयारी होगी; तब स्त्री-पुत्र आदि सगे-संबंधी हाय-हाय करते हुए खड़े रहेंगे; परन्तु वे तुझे शरण नहीं दे सकते। यदि कदाचित् उस समय साधर्मी-जन धर्म सुनाने वाले हों तो भी वे तुझे शरण नहीं दे सकते। तेरी शरण तो तुझमें ही है, उसे देख और अपनी शरण ले। अरे जीव ! पर में शरण की बुद्धि छोड़ और अन्दर में शरणभूत चैतन्यतत्त्व को देख।

जगत को मरण का भय है; परन्तु ज्ञानियों को तो आनन्द की लहर है। मैं तो शास्वत चैतन्यरूपी हूँ, मेरा मरण कैसे हो सकता है ? इसप्रकार अपने शाश्वत स्वभाव का भान करके धर्मी जीव ने अपनी शरण ली है। इसलिए देह छूटने का प्रसंग भी उसके लिए शान्ति का महोत्सव है।

जिसप्रकार कोई ईश्वर इस जगत का कर्ता-हर्ता नहीं है, उसीप्रकार दूसरा कोई जीव भी इस जीव को मारने वाला या बचाने वाला नहीं है। अन्य पदार्थों को शरणभूत माननेवाला तो ईश्वर को जगत का कर्ता मानने के समान अज्ञानी है। अरहंतों और सिद्धों का स्वरूप तो हमें यह बताता है कि "हे जीव ! तू अपने आत्मा की शरण ले। हम अपने स्वभाव की

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

शरण लेकर उसके आश्रय से मुक्त हो गये हैं, तू भी अपने स्वभाव की शरण लेगा, उसका आश्रय करेगा तो तुझे सम्यक्-दर्शन-ज्ञान प्रकट होगा और तभी व्यवहार से ऐसा कहा जाएगा कि तूने अरहंत आदि की शरण ली है।" यहाँ 'व्यवहार से' इसलिये कहा है कि ये वास्तव में आत्मा को कुछ दे नहीं सकते।

अहो ! आत्मा अर्थात् चैतन्यसूर्य, अतीन्द्रिय आनन्द का भंडार, अनन्त शक्ति सम्पन्न भगवान-आत्मा स्वयं इतना महान है कि उसे किसी अन्य की शरण लेने की आवश्यकता नहीं है। इसके स्वभाव में क्या कमी है कि उसे दूसरे की शरण लेना पड़े? तू अपने वैभव को भूलकर पुण्य-पाप और संयोग की दृष्टि रखेगा, तो वे तुझे शरणभूत नहीं होंगे। इसप्रकार बारम्बार स्वरूप का विचार करने पर सच्चा वैराग्य उत्पन्न होगा।

अपने स्वभावभूत निज वैभव को जाननेवाले ज्ञानी निर्भय हैं। इस लोक तथा परलोक में मेरा क्या होगा? कौन शरणभूत होगा? ऐसा भय ज्ञानी को नहीं होगा। मेरी शरण तो मुझमें ही है, मुझे दुनियाँ से क्या काम है? देह छूटने पर, यह जीव दूसरे भव में जाता है; परन्तु वहाँ भी आत्मा अपने गुण और पर्याय सहित ही जाता है, सर्वथा मर नहीं जाता। एक शरीर छोड़कर, दूसरा शरीर मिला; परन्तु आत्मा बदलकर दूसरा नहीं हो गया।

देखो न! इस भव से पूर्व भव में, यह जीव कहाँ था ? इसका स्मरण बहुत से जीवों को हो जाता है। पिछले शरीर का संयोग छूट गया; परन्तु आत्मा स्वयं अविनाशी रहा। वह जानता है कि पिछले भव में मैं दूसरे शरीर में था। अब वही मैं इस शरीर में आया हूँ, इसलिये मैं शरीर नहीं हूँ । मैं तो शरीर से भिन्न जीव हूँ। शरीर मुझे शरणभूत नहीं है तथा रागादि परभाव भी मुझे शरणभूत नहीं हैं। देह और रागादि सभी अशरण हैं; उनसे भिन्न शाश्वत ज्ञानानन्दस्वभावी आत्मा ही मुझे शरणभूत है। ऐसी अनुप्रेक्षा द्वारा धर्मी जीव वीतरागता में वृद्धि करते हैं।

इसप्रकार अशरण भावना का वर्णन पूरा हुआ।

***

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

संसार-भावना

अब संसार भावना का वर्णन करते हुए पण्डित दौलतरामजी कहते हैं:—

चहुँगति दुःख जीव भरे हैं, परिवर्तन पंच करे हैं।
सब विधि संसार असारा, यामें सुख नाहिं लगारा॥ ५॥

यह जीव अज्ञान के कारण संसार में चारों गतियों के दुःख भोगता हुआ पाँच परावर्तन पूरा करता है। यह संसार सर्वथा असार है, इसमें बिल्कुल सुख नहीं है। इसप्रकार संसार के स्वरूप का चिन्तवन करके अपने सुखस्वभाव में परिणामों को विशेष एकाग्र करना संसारभावना का फ़ल है।

संसार में नरक, तिर्यंच, मनुष्य तथा देव — इन चारों गतियों में भ्रमण करते हुए जीव कैसे-कैसे दुःख सहन करता है, उसका अत्यन्त करुण वर्णन पहली ढाल में आ चुका है। उन दुःखों को याद करके मुनिराज संसार से विरक्त होते हैं।

देखो! चारों गतियों में दुःख ही बताया है; देवगति में भी दुःख है; क्योंकि वहाँ जीवों को मिथ्यात्वादि परभावों का दुःख है। सुख-दुःख संयोग में नहीं; अपितु जीव के भाव में होते हैं, सुख आत्मा का स्वभाव है; अतः आत्मस्वभाव की अनुभूति के बिना सुख कैसे हो सकता है? देवगति के बाह्य विषयों में बिल्कुल सुख नहीं है। इसीप्रकार मनुष्यगति में भी धन तथा मान आदि की प्राप्ति होने पर भी उनमें बिल्कुल सुख नहीं है; अपितु यह जीव उनके लक्ष्य से आकुलता करके दुःखी होता है। आत्मा के लक्ष्य से उसका वेदन होना ही सच्चा सुख है, वह सुख विषयातीत है, उसके लिए किसी बाह्य पदार्थ की जरूरत नहीं है, ऐसा अतीन्द्रिय विषयातीत परिपूर्ण सुख अरहंत और सिद्ध भगवान को होता

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

है। साधक जीवों को भी आंशिक रूप से अतीन्द्रिय सुख होता है। यद्यपि वह सुख थोड़ा है; परन्तु सिद्धों के सुख जैसा ही है।

मिथ्यात्व सहित शुभ-अशुभ कषायचक्र से यह जीव पाँच परावर्तन करता हुआ दुखी होता है। पंचपरावर्तन में देवगति के भव तथा इस जाति का शुभराग भी शामिल है। एक-एक भवपरावर्तन में नरकगति के अनेक भव होते हैं तथा उसकी अपेक्षा असंख्यातगुणे अर्थात् अनन्त देवगति के भव में ग्रैवेयक पर्यन्त भव होते हैं, मनुष्यगति के भव सबसे कम होते हैं; फिर भी वे अनन्त हैं। संसार की व्यवहार राशि में रखड़ता हुआ यह जीव चारों गतियों में जो भव-भ्रमण करता है; यहाँ तो उसकी बात कही है, जबकि निश्चय राशि में (नित्य निगोद) तो अनन्तानन्त निगोदिया जीव ऐसे हैं, जिन्होंने निगोद की एकेन्द्रिय पर्याय के अलावा दूसरे कोई भव अभी तक धारण ही नहीं किये तथा करेंगे भी नहीं। यहाँ पर तो निगोद से बाहर निकलकर चारों गति में परिभ्रमण करनेवाले जीवों की बात कही है। बड़ी कठिनता से निगोद से निकलकर भी यह जीव चारों गति में अनन्त दुःख भोगता है तो निगोद में रहनेवाले जीवों के दुःख की क्या बात करें? अरे! जिसप्रकार सिद्ध भगवान का सुख वचनातीत है; उसीप्रकार निगोद का दुःख वचनातीत है।

पण्डित दौलतरामजी कहते हैं 'सब विधि संसार असारा' विधि अर्थात् चारों गति में सभीप्रकार से यह संसार असार है, इसमें जरा भी सुख नहीं है। जबकि आत्मा का सुखस्वभाव है, सबप्रकार से सारभूत है। आत्मा अपार सुख से भरपूर है तथा उसमें किंचित् दुःख नहीं है।

संसार में मिथ्यादृष्टि के योग्य जो कोई द्रव्य (कर्म-नोकर्म) क्षेत्र, काल, भव और भाव हैं, अज्ञानी उन सभी को क्रमशः दुःखपूर्वक भोगता हुआ पूर्ण करता है। सम्यग्दर्शन होने के बाद किसी जीव को एक भी परावर्तन पूरा नहीं होता है, संसार के पंचपरावर्तनों से वह छूट जाता है।

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

मिथ्यादृष्टि जीव निगोद से लेकर नवमें ग्रैवेयक तक के भवों में रुल-रुलकर दुःख के वेदनपूर्वक पाँच प्रकार के परावर्तन पूरा करता है। इसप्रकार यह जीव अनन्तबार पंचपरावर्तन पूरा कर चुका है। जब यह जीव सम्यग्दर्शन प्राप्त करता है, तभी इनसे छूटता है।

शास्त्रों में पंचपरावर्तन का बहुत विस्तार से वर्णन है; परन्तु यहाँ संक्षेप में कहते हैं —

(१) मिथ्यादृष्टि द्वारा ग्रहण करने योग्य कर्म-नोकर्म के सभी पुद्गलों को ग्रहण करने और छोड़ने पर एक द्रव्यपरावर्तन पूरा होता है। यह परावर्तन भी जीव ने अनन्तबार किया है।

(२) लोक के मध्य के ८ प्रदेशों में अपने आत्मा के ८ रूचक प्रदेश रखकर जीव जन्म लेवे, फिर एक-एक प्रदेश अधिक अवगाहना से पुनः वहाँ उत्पन्न हो, इस क्रम से सम्पूर्ण लोक के शून्य क्षेत्र से उपजे और मरे तब एक क्षेत्रपरावर्तन पूरा होता है। ऐसा क्षेत्रपरावर्तन भी जीव ने अनन्त बार किया है।

(३) यह जीव अवसर्पणी काल के प्रथम समय में उपजे, फिर बीच के अन्य समय में होने वाले जन्म को शामिल न करते हुए पुनः अवसर्पणीकाल के दूसरे समय में उत्पन्न हो, फिर लम्बे काल तक भ्रमण करते हुए तीसरे समय में उत्पन्न हो, इसीप्रकार एक-एक समय में अवसर्पणी और उत्सर्पणी के सभी समूहों को पूरा करे, तब एक कालपरावर्तन पूरा होता है। ऐसा काल-परावर्तन भी यह जीव अनन्त बार कर चुका है।

(४) यह जीव प्रथम नरक की जघन्य स्थिति दस हजार वर्ष की आयु को लेकर उत्पन्न हो, फिर दस हजार वर्षों में जितने असंख्य समय होते हैं, उतने ही बार जघन्य स्थिति लेकर वहीं जन्म ले, फिर दस हजार वर्ष और एक समय की अधिक आयु बाँधकर

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

इसी नरक में जन्म ले। इसप्रकार एक-एक समय बढ़ाता-बढ़ाता सातों नरक की सभी आयु की स्थिति पूरी करे। इसीप्रकार देवगति में भी दस हजार वर्ष की जघन्य आयु से प्रारम्भ करके एक-एक समय बढ़ाता-बढ़ाता इकत्तीस सागरोपम तक की आयु की स्थिति पूरी करे, फिर इसीप्रकार मनुष्य और तिर्यंचगति में जघन्य आयु प्रारम्भ करके उत्कृष्ट आयु तक की स्थिति पूरी करे। इसीप्रकार एक-एक समय की वृद्धि कर चारों गति में निगोद से लेकर नवमें ग्रैवेयक तक के सभी भवों का चक्र पूरा करे; तब एक भवपरावर्तन पूरा होता है। ऐसा भवपरावर्तन भी यह जीव अनन्त बार कर चुका है।

(५) मिथ्यादृष्टि जीव के होने योग्य जो भी शुभ-अशुभ भावों के कषायचक्र को क्रमशः उत्कृष्ट विशुद्धि से लेकर संकलेश तक के भावों का कषायचक्र अनुक्रम से पूरा करे, तब एक भावपरावर्तन पूरा होता है। यहाँ जो उत्कृष्ट विशुद्धि कहा है उसे मिथ्यादृष्टि के योग्य शुभपरिणाम समझना चाहिए। सम्यग्दर्शन पानेवाले जीव को करणलब्धि के समय जैसी विशुद्धता होती है, वैसी विशुद्धता उसमें शामिल नहीं है, यदि सम्यक्त्व के योग्य जैसी विशुद्धता कहा जाये तो फिर यह जीव भावपरावर्तन ही न करे। वह तो अल्पकाल पंचपरावर्तन से छूट जाता है।

ये पाँच परावर्तन मिथ्यात्वदशा में इस जीव ने अनेक बार किये हैं।

मिथ्यात्व के कारण यह जीव चारों गतियों में रुलता हुआ पंच परावर्तन पूरे करता है। निगोद से लेकर नवमें ग्रैवेयक और फिर वहां से घूमता-घूमता पुनः निगोद— इसप्रकार ऊपर-नीचे भवचक्र में घूमा करता

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

है। मिथ्यादृष्टि जीव नवमें ग्रैवेयक से ऊपर नहीं जाता; इसलिए पंच परावर्तन के चक्र में उसके स्थान को शामिल नहीं करते। नवमें ग्रैवेयक से ऊपर नौ अनुदिश और पांच अनुत्तर विमान हैं। उनमें सभी जीव सम्यग्दृष्टि ही हैं, जो कि अल्पकाल में मुक्त होने वाले हैं अर्थात् अब उन्हें एक भी परावर्तन पूरा नहीं करना। वे संसार के पंच परावर्तन में से बाहर निकल चुके हैं और आत्मा की आराधना करते-करते आनन्दपूर्वक मुक्ति की साधना कर रहे हैं।

अरे! संसार में घूमते हुए इस जीव ने रौरव नाम के सातवें नरक में अति भयंकर दुःख भोगे हैं और स्वर्ग का देव होकर वहाँ भी दुःख ही भोगे हैं। इस जीव ने प्रतिदिन लाखों जीवों की हिंसा करके पापभाव भी किये और शुभराग से अहिंसा इत्यादि के पुण्य भाव भी किये; परन्तु वह शुभाशुभ कषाय चक्र में से बाहर निकलकर सम्यग्दर्शन रूप वीतरागभाव में कभी नहीं आया; इसने कषाय रहित चैतन्य-रस की शान्ति का स्वाद कभी नहीं चखा; अतः सुखी नहीं हुआ, दुःखी ही रहा। अहो! ऐसे दुःखी जीव पर करुणा करके दिगम्बर संतों ने उसे दुःख से छूटने और आत्मसुख प्राप्त करने का सच्चा उपाय बताया है।

यहाँ पर वैराग्य की वृद्धि के लिए तथा ध्यान में एकाग्रता के लिए मुनिराज जिन बारह भावनाओं का चिन्तवन करते हैं, उनमें से तीसरी संसार भावना का वर्णन चल रहा है। संसार में घूमता हुआ अज्ञानी जीव अपनी भूमिका के अनुसार सभी प्रकार के शुभ-अशुभ भाव कर चुका है; परन्तु उस कषाय चक्र से तो भव भ्रमण ही हुआ, आत्मा को सुख और शान्ति कहीं नहीं मिली। सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्ररूपी धर्मचक्र के द्वारा परमवैराग्य में झूलनेवाले संत मुनिराज को ही परम शान्ति प्राप्त होती है।

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

सुख तो वीतरागभाव में है; शुभ-अशुभ भाव तो उदयभाव हैं तथा उदयभाव ही संसार है; उदयभाव के बिना संसार नहीं होता और चैतन्यभाव के बिना कोई जीव नहीं होता। उदयभाव के बिना जीव तो हो सकते हैं, सिद्ध भगवान उदयभाव के बिना ही जी रहे हैं; परन्तु जीवत्वरूप पारिणामिकभाव अर्थात् उपयोग लक्षण के बिना कोई जीव नहीं होता। पांच भावों में उदयभाव ही बंध का अर्थात् संसार का कारण है और उसमें भी मोहजन्य उदयभाव ही बंध का कारण है।

जीव की अशुद्धपर्याय में ही उसका संसार है; जीव का संसार जीव के भाव में ही है। स्त्री-पुत्र, घर-बार इत्यादि का संयोग तो परवस्तु है; उसमें जीव का संसार नहीं है; परन्तु उसमें सुखबुद्धि अर्थात् ममत्वबुद्धिरूपी मोहभाव ही जीव का संसार है। यह मोहभाव आत्मा का सच्चा स्वरूप नहीं है। सबसे पहले उन परभावों से भिन्न शुद्ध चैतन्य स्वभाव का भान होने पर मिथ्यात्व इत्यादि मोहभाव नष्ट होता है; तथा मोहरहित सम्यक्त्व आदि शुभभाव प्रकट होते हैं, जो कि मुक्ति के कारण है; उनकी शुरुआत चतुर्थ गुणस्थान से होती है। इस जगत में मिथ्यात्व के समान जीव का अहित करनेवाला तथा सम्यक्त्व के समान जीव का हित करनेवाला दूसरा कोई नहीं है।

अरे! मिथ्यात्व आदि परभावरूपी यह संसार तो सब तरह से असार ही है; उसमें कहीं किंचित् भी सार नहीं है तथा चैतन्यस्वभावी आत्मा सब प्रकार से सारभूत है, उससे ऊँची कोई दूसरी चीज नहीं है। संयोग में अथवा परभावों में जरा भी सुख नहीं है; आनन्दकन्दस्वरूप आत्मा का वेदन ही महान सुख से भरा हुआ है; यह जीव सुखों से भरे हुए निजस्वभाव को भूलकर अपनी पर्याय में दुःख भोगता है और संसार में पंचपरावर्तन के चक्र में घूमता रहता है। पंचपरावर्तन में चारों गतियों के अनन्तभव आ जाते हैं। यह जीव ऐसे अनन्त परावर्तन इन पापभावों

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

द्वारा कर चुका है। आत्मा का सम्यक् भान होने पर यह पंचपरावर्तन का चक्र टूट जाता है तथा मोक्षमार्ग की अपूर्व धारा प्रकट हो जाती है।

मिथ्यात्व का फल संसार है और सम्क्त्व का फल मोक्ष है। नाटक समयसार के मोक्ष-अधिकार के भावार्थ में पण्डित बुद्धिलालजी श्रावक लिखते हैं - "प्रगट हो कि मिथ्यात्व ही आस्रव बंध है और मिथ्यात्व का अभाव अर्थात् सम्यक्त्व ही संवर-निर्जरा तथा मोक्ष है।"

संसार का मूल मिथ्यात्व है और मोक्ष का मूल सम्यक्त्व है।

अरे! ऐसे मनुष्य भव में आत्मा की साधना करने के लिए समय निकालना चाहिए। भाई! संसार के पापों और शरीर की चिन्ता में व्यर्थ ही समय गंवाने जैसा नहीं है। शरीर की अवस्था आत्मा के आधीन नहीं है, फिर भी जीव मोह से दुःखी होता है। यदि कदाचित् शरीर का परिणमन जीव की इच्छा के अनुकूल हो तो भी इसमें आत्मा का सुख लेशमात्र भी नहीं है। भाई! तू स्वयं चैतन्यप्रभु है; तेरा सुख जड़ पदार्थों में हो— ये कैसे सम्भव है? शरीर से भिन्न चैतन्यस्वभाव का लक्ष्य तो कर! यदि ऐसा करेगा तो देह छूटने के समय शान्ति रहेगी। इसके अलावा तेरा रक्षक या तुझे शरण देनेवाला संसार में कोई नहीं है। इसप्रकार संसार का स्वरूप बारम्बार विचार करके, उससे विरक्त होकर चैतन्य स्वभाव में एकाग्र होना संसार अनुप्रेक्षा का तात्पर्य है।

कोई पागल मनुष्य इधर-उधर भटकता हुआ नदी के किनारे जाकर बैठ गया। वहां किसी राजा ने आकर पड़ाव डाला तो वह अपने पास ठहरे हुए हाथी, घोड़ा, रथ, मनुष्य इत्यादि को देखकर विचार करने लगा कि यह मेरे हाथी, घोड़ा आदि आ गये; मेरी सेना आ गयी — ऐसा मानकर वह बहुत प्रसन्न हुआ। थोड़ी देर बाद जब पड़ाव उठने लगा, तब वह मनुष्य चिल्ला-चिल्लाकर रोता हुआ कहने लगा कि अरे, मेरा यह ठाठ-बाठ यहाँ से क्यों जा रहा है? मुझसे पूछे बिना यह सब कहाँ जाने लगे? परन्तु भाई! वे तेरे थे ही कहाँ? वे तो सब अपने कारणों से रुके

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

थे और उनका काम पूरा होने पर जाने लगे। वे क्या तुझसे पूछकर आये थे? जो तुझसे पूछकर जायें? ये तो तेरे थे ही नहीं, तू प्रत्यक्ष ही उनसे भिन्न था, तू इन्हें अपना मानकर व्यर्थ ही दुःखी होता है।

इसीप्रकार पागल के समान मोही जीव संयोग को अपना मानकर खुश होता है तथा उनके वियोग होने पर "हाय-हाय मेरा सब कुछ चला गया" इसप्रकार खेद करता है; परन्तु अरे बापू! ये संयोग तेरे थे ही कहाँ? ये तो स्पष्ट रूप से तुझसे भिन्न हैं। ये तेरे कारण नहीं आये तथा तेरे रोकने से रुकेंगे भी नहीं। हाँ जगत के पदार्थ तो अपने कारण से आते-जाते हैं, तू इसमें व्यर्थ ही हर्ष-शोक करके क्यों दुःखी होता है? इन पदार्थों को तू अपने से भिन्न जान। तू इन संयोगों से भिन्न चैतन्यस्वरूप आत्मा है, तुझे कभी आत्मा का वियोग नहीं हुआ। इसप्रकार आत्मा की पहचान करके, यदि अपने निज घर में रहेगा तो तेरा दुःख मिट जाएगा और संयोग और वियोग में आत्मा के लक्ष्य से समाधान रहेगा कि उनमें मेरा कुछ भी आता-जाता नहीं है; मेरा तो सब कुछ मेरे ज्ञानस्वभाव में ही है। इसप्रकार अनुभव के द्वारा स्वभाव में एकाग्र होने पर संसार भ्रमण का दुःख मिटेगा और मोक्ष का सुख प्रकट होगा।

संसार में चारों गतियों में दुःख ही दुःख है— इसप्रकार उनका स्वरूप विचार करके उनके प्रति विरक्त होना चाहिए और ध्रुव चिदानन्दस्वरूप मेरा आत्मा ही मेरे लिए शरणभूत है, सारभूत है - इसप्रकार आत्मा की पहचान करके उसमें एकाग्र होना चाहिए - यही बारह भावना का फल है।

विकारी भाव तो संसार है, असार है, पर-घर है और अपना आनन्द स्वभाव ही सारभूत है, शरण है तथा निज-घर है। स्वभाव में संसार या दुःख नहीं है। धर्मी ने ऐसा चैतन्यस्वभावरूप निज-घर देखा है, इसलिए उसे वही सुहाता है, अन्यत्र कहीं नहीं सुहाता। वह तो निरन्तर यही भावना भाता है — "अरे रे, हम इस विभावरूप परदेश में कहाँ आ गये? यहाँ

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

हमारा कोई नहीं है, हमें यहाँ अच्छा नहीं लगता, अनन्त गुणों से भरपूर स्वभाव ही हमारा स्वदेश है, उसमें सब कुछ हमारा है, हमें उसी में अच्छा लगता है"— इसप्रकार धर्मीजीव को स्वभाव और विभाव का अत्यन्त भेदज्ञान वर्तता है। उन्हें विकारी भावों में चैन नहीं पड़ती, वे निरन्तर अपने परमशान्त स्वभाव की भावना भाते हैं और उसी में एकाग्र होते हैं। अनन्त गुणों की प्रभुता से भरपूर ज्ञानानन्द स्वभावी आत्मा में एकाग्र होने पर महा-आनन्द का समुद्र उल्लसित होता है, उसमें अनन्त गुणों का रस एक साथ उछलता है, उसमें विभाव या दुःख नहीं है।

अहो! आत्मा का निज वैभव, चैतन्य-निधान, राग से भिन्न है; उसकी कीमत किये बिना अर्थात् अपने स्वरूप को जाने बिना यह जीव चारों गति में दुःख भोग रहा है। इस दुःख का कारण कोई अन्य नहीं है, अपनी भूल के कारण ही यह जीव दुःखी है। अज्ञानी जीव को तो पुण्य-पाप और उसके फलरूप भोग सामग्री की ही रुचि हैं। आत्मा तो उनके लिए जैसे कोई चीज ही नहीं है, उसका तो उन्हें अस्तित्व ही भासित नहीं होता। आत्मा के लिये तो वे बिलकुल विचारशून्य हो गए हैं। अरे भाई! आत्मा अर्थात् आनन्द का भण्डार सर्वज्ञ परमात्मा। प्रत्येक आत्मा के स्वभाव में सिद्ध परमात्मा के समान अनन्त गुणों का भण्डार भरा हुआ है। राग-द्वेष, पुण्य-पाप आदि आत्मा की खान में हैं ही नहीं। वह स्वयं ज्ञान-आनन्द से भरा, पूर्ण चैतन्य-निधान है। इसप्रकार अपने आत्मा की महिमा भासित हो तो राग की और परद्रव्यों की महिमा उड़ जाएगी।

अरे! चार गतियों में कितना दुःख है! आत्मा के स्वभाव में कितना सुख है! यदि जीव इन दोनों का तुलनात्मक विचार करे तो संसार से वैराग्य हो जाए और आत्मा के सन्मुख होकर अतीन्द्रिय आनन्द का वेदन करले। चारों गतियों में घोर अनन्त दुःख है तो आत्मा का आनन्द भी

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

अचिन्त्य और महान है। यदि जीव उस अतीन्द्रिय आनन्द का विचार भी करे तो परिणति संसार से हटकर अन्तर्मुख हो जाए।

हे भाई ! तू अपने परमानन्द स्वभावी आत्मा को भूलकर, परपदार्थों को आश्चर्यकारी मानकर, उन्हें अधिकता देकर, उनकी ओर विस्मय से देखता है; परन्तु वास्तविक आश्चर्य और अधिकता तेरे चैतन्य में भरी है। उपयोग गुण के कारण तू सबसे अधिक अर्थात् सबसे भिन्न, अद्भुत से अद्भुत चैन्यस्वरूप है; यदि तू अपने स्वरूप को देखे तो तुझे उसके सामने जगत का कोई पदार्थ आश्चर्यजनक या अद्भुत नहीं लगेगा। मात्र असंख्यात प्रदेशों में अनन्तगुण ..... अनन्त आनन्द ..... छोटे से क्षेत्र में लोकालोक का ज्ञान समा जाय; एक क्षण में अन्दर से परमात्मा निकले — ऐसा महान चमत्कारिक और आनन्दमयी चैतन्यतत्त्व तू ही है। चेतना गुण के कारण आत्मा में ऐसी अधिकता अर्थात् विशेषता है। उसमें रागादि परभाव और अचेतन पुद्गल पदार्थ नहीं समाते, वे चैतन्य से बाहर ही रहते हैं।

शुभ-अशुभभाव या उनके फल में आश्चर्य करने योग्य कुछ भी नहीं है; ऐसे भाव इस जीव ने अनन्त बार किये हैं तथा उनका फल भी अनन्तबार भोगा है; अतः वे भाव अद्भुत नहीं है, शरणरूप नहीं हैं, उनमें शान्ति नहीं है। शुभराग के फलरूप देवलोक के वैभव में ज्ञानी को कुछ भी विस्मयता भासित नहीं होती। उन्हें तो अपना चैतन्य-निधान ही आश्चर्यकारी और अद्भुत लगता है। सम्यग्दर्शन की अद्भुत महिमा की खबर नहीं है। परमभावरूप संसार-क्लेश को शान्त करने में स्वानुभूतिरूप अमृतजल ही समर्थ है। अन्तर्दृष्टि द्वारा चैतन्य में से प्रगट होने वाला शान्ति का अंश भी अनादि की राग-द्वेष रूपी ज्वाला को बुझा

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

देता है। जगत का कोई भी प्रसंग उस शान्ति को नष्ट नहीं कर सकता। भगवान-आत्मा ऐसी अनन्त शक्तियों का समुद्र है, जिसे धर्मी ने सम्यग्दर्शन द्वारा अपने में देखा है, उसी में सच्चा सुख है। अज्ञानी जीव सुख की जैसी कल्पना करता है, सुख का वैसा स्वरूप नहीं है। अरे रे ! जगत के जीव अपने स्वाभाविक सुख को भूलकर बाह्य विषयों में सुख मान रहे हैं? ऐसे जीवों को सम्बोधित करते हुए मात्र १६ वर्ष की उम्र में श्रीमद् राजचन्द्रजी ने भावना बोध में लिखा है :—

अनन्त सुख नाम दुःख, त्याँ रही न मित्रता,
अनन्त दुःख नाम सुख प्रेम त्याँ विचित्रता !
उघाड़ न्याय नेत्र ने नीहाल रे----निहाल तूँ,
निवृत्ति शीघ्रमेव धारी ते प्रवृत्ति बाल तूँ।

देखो ! कितनी सुन्दर बात लिखी है? हे भाई ! तू अपने ज्ञान की आँख खोलकर जरा न्याय से विचार कर कि सच्चा सुख किसमें है? तू जिनमें सुख मान रहा है, उन बाह्य विषयों में तो जरा भी सुख नहीं है, मात्र दुःख ही है और जिनमें तुझे दुःख भासित होता है — ऐसे सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र रूप वीतरागभाव में नाममात्र का दुःख है; वास्तव में उनमें दुःख है ही नहीं ; अनन्त सुख है। इसलिए तू ज्ञान से विचार करके परपदार्थों में सुख मानने की मिथ्याप्रवृत्ति को छोड़; इससे निवृत्त हो जा और आत्मा में सच्चा सुख जानकर उसकी आराधना कर।

अरे ! यह जीव संसार में, बाह्य विषयों में सुख मानकर आकुलता में जल रहा है। इस जीव ने नरक में जो घोर दुःख भोगे हैं, उनकी क्या बात कहें ? उन दुःखों को याद करने से भी हृदय काँप उठता है। आज स्वप्न में हमने एक जीव को नरक में देखा। अग्नि में नग्न शरीर जल रहा था। अरे ! कहाँ नरक की पीड़ा ! और कहाँ चैतन्य की शान्ति ! फिर (स्वप्न में) देखा कि कोई व्यक्ति घड़े में से उस जलते हुए व्यक्ति के ऊपर कोई चीज डाल रहा है, जिससे उसकी पीड़ा शान्त हो गई।

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

अर्थात् चैतन्य में से शान्तरस की धारा प्रगट करना ही दुःख मिटाने का उपाय है; दूसरा कोई उपाय नहीं है। यह जीव परपदार्थों और राग में सुख की कल्पना करके दुःख मिटाना चाहता है; परन्तु यह सच्चा उपाय नहीं है, उससे दुःख नहीं मिटता, सुख नहीं होता। जैसे — शक्कर स्वयं मीठी है, वैसे भगवान आत्मा स्वयं सुखस्वरूप है, उसके अलावा अन्यत्र कहीं भी सुख की कल्पना करना मिथ्या है।

देवलोक के वैभव, जीव को सुख नहीं देते; जीव स्वयं उनमें सुख की कल्पना करता है और यह कल्पना जीव का स्वरूप नहीं है। जिसप्रकार मृगमरीचिका का जल सच्चा जल नहीं है, उसीप्रकार कल्पित सुख सच्चा सुख नहीं है। यह जीव मृगमरीचिका में चाहे जितनी जल की कल्पना करे; परन्तु उससे प्यास नहीं बुझती; उसीप्रकार अज्ञानी जीव बाह्य विषयों में चाहे जितनी सुख की कल्पना करे; परन्तु उसमें से बिल्कुल सुख नहीं मिलता। आत्मा स्वयं अतीन्द्रिय सुखस्वरूप है, वह अन्य कारणों के बिना स्वयं ही अकेला सुखस्वरूप परिणमता है, सुख बाहर से नहीं आता — ऐसी भावनारूप जो जीव परिणमता है, वह स्वयं सुखी हो जाता है। आत्मा के स्वभाव में दुःख या संसार नहीं है — ऐसे स्वभाव की भावना करना चाहिए।

यह जीव व्यर्थ ही बाह्य पदार्थों में सुख की कल्पना करके दुःखी होता है। जिसप्रकार मृगजल में पानी की मिथ्या कल्पना करने से, दौड़ने से हिरण की प्यास तो नहीं बुझती, उलटे वह और अधिक दुःखी होता है; उसीप्रकार बाह्य विषयों में सुख की कल्पना करके उनकी ओर दौड़ने से जीव को सुख तो नहीं मिलता, उल्टे वह और अधिक आकुल-व्याकुल होकर दुःखी होता है।

जहाँ सुख है वहाँ खोजे तो सुख मिलेगा न! "यह शरीर मेरा है, यह ठीक रहे तो मैं सुखी और यह ठीक न रहे तो मैं दुःखी; धन रहे तो

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

मैं सुखी और धन चला जाये तो मैं दुखी; एक न एक पुत्र हो जाये (चाहे वह सप्तव्यसनी हो) तो मैं सुखी और भर जवानी में इकलौता पुत्र मर जाये तो मैं दुःखी" — इसप्रकार बाह्यपदार्थों में सुख की या दुःख की, दोनों कल्पनाओं से जीव दुःखी होता है।

भाई ! एकबार भेद-ज्ञान तो कर कि सुख मेरे स्वभाव में ही है, परपदार्थों में नहीं है। संसार में धन, पुत्रादि, देवगति आदि अनेक बार मिले; परन्तु मैं सुखी नहीं हुआ। संसार में भ्रमण करते हुए मुझे क्या नहीं मिला? सम्यग्दर्शन के सिवाय सब कुछ मिला। आज जो स्त्रीरूप में दिख रही है, वही पूर्वभव में अनेकबार माता हुई है। पूर्वभवों में जो अनेक बार शत्रु हुआ है, वही कभी प्यारा पुत्र हुआ है। जो पहले पिता था, वही इस भव में पुत्र हो जाता है। अरे रे ! ऐसे संसार में क्या मोह करना? भाई ! ऐसे संसार में अर्थात् संयोगों और परभाव में सुख खोजना छोंड़ दे। आत्मा का स्वभाव ही सुखरूप है, उसे देख ! बारम्बार उसका चिन्तन कर ! उसी में एकाग्रता कर ! इससे तुझे महान सुख प्राप्त होगा।

इसप्रकार सुखस्वरूप आत्मा का और दुःखस्वरूप परभावों का स्वरूप विचारकर, संसार के कारणरूप परभावों से पीछे हटकर स्वरूप में एकाग्र होना ही संसार भावना का तात्पर्य है।

इसप्रकार संसार भावना का वर्णन पूरा हुआ।

***

आपा नहिं जाना तूने, कैसा ज्ञानधारी रे !
देहाश्रित करि क्रिया आपको, मानत शिवमगतारी रे ॥ १ ॥
निजनिवेद विन घोर परीषह, विफल कही जिन सारी रे ॥ २ ॥
शिव चाहै तो द्विविध कर्मतैं, कर निजपरनति न्यारी रे ॥ ३ ॥
'दौलत' जिन निजभाव पिछान्यौ, तिन भवविपति विदारी रे ॥ ४ ॥

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

एकत्व भावना

अब एकत्व भावना का वर्णन करते हुए पण्डित दौलतरामजी कहते हैं :—

शुभ-अशुभ करमफल जेते, भोगे जिय एकहि तेते।
सुत-दारा होय न सीरी, सब स्वारथ के हैं भीरी॥ ६॥

इस संसार में शुभ या अशुभ जितने भी कर्मफल हैं; उन सभी को यह जीव स्वयं अकेला ही भोगता है; उसमें स्त्री, पुत्र आदि कोई सहभागी नहीं है, वे सब अपने-अपने स्वार्थ के सगे हैं।

संसार में घूमने में या मुक्ति की साधना में यह जीव अकेला ही है। यह स्वयं अकेला ही अपने बन्ध या मोक्ष के परिणामों को करता है — ऐसा जानता हुआ सम्यग्दृष्टि जीव सदा निज शुद्धात्मा में एकत्वरूप से परिणमता हुआ शुद्धात्मा की साधना करता है। — यही परमार्थ एकत्व भावना है।

अत्यन्त निकटवर्ती शरीर के साथ भी इस जीव का एकत्व सम्बन्ध नहीं है तो अन्य बाह्य पदार्थों की क्या बात कहें? अन्तर में भी चैतन्यस्वरूप उपयोग और रागादि विकारी भावों में एकता नहीं; अपितु भिन्नता है। इसप्रकार परद्रव्यों और परभावों से विभक्त आत्मा का अपने ज्ञायकभाव के साथ एकत्व है — ऐसा एकत्व-विभक्तपना जानने वाला धर्मी जीव अपने सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र में एकत्वरूप से परिणमता हुआ स्वसमय में स्थिर होता है। भगवान कुन्दकुन्दाचार्यदेव समयसार की पाँचवी गाथा में ऐसे एकत्व-विभक्तस्वरूप आत्मा को दिखाने की प्रतिज्ञा करते हुए कहते हैं —

निज विभव से एकत्व ही दिखला रहा करना मनन।
पर नही करना छल ग्रहण, यदि हो कहीं कुछ स्खलन॥

मैं स्वानुभवपूर्वक अपने आत्मा के समस्त वैभव से एकत्व-विभक्त

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

रूप शुद्धज्ञायक आत्मा दिखाता हूँ। जैसा मैं दिखाता हूँ वैसा स्वयं स्वानुभाव से प्रमाण करना।

एक ज्ञायकस्वभावी शुद्धात्मा में राग का एक कण भी नहीं समाता। राग का रस भी रहे और ज्ञायक आत्मा का अनुभव भी हो जाये — ऐसा कभी नहीं होता। ज्ञानी अपने आत्मा को कैसा अनुभव करते हैं — इसका वर्णन करते हुए पण्डित बनारसीदासजी ने नाटक समयसार में लिखा है—

कहें विचक्षण पुरुष सदा मैं एक हूँ,
अपने रस सों भर्यो अनादि टेक हूँ।
मोह करम मम नाहिं, नाहिं भ्रमकूप है,
शुद्ध चेतना सिन्धु हमारो रूप है॥

शुद्धचेतना के समुद्र में विभाव नहीं समाते। मैं सदा अपने चैतन्य-स्वभावरूप एक हूँ। आचार्य कुन्दकुन्ददेव समयसार में लिखते हैं —

मैं एक दर्शन-ज्ञानमय नित शुद्ध हूँ रूपी नहीं।
ये अन्य सब परद्रव्य किंचित् मात्र भी मेरे नहीं ॥ ३८ ॥

मैं एक हूँ, अर्थात् शुद्ध हूँ; शुद्ध हूँ अर्थात् स्वभाव से पूर्ण हूँ; एकत्व में दूसरे से सम्बन्ध नहीं, शुद्धता में अशुद्धता नहीं, और पूर्णता में अन्य पदार्थ का परमाणु मात्र का प्रवेश नहीं — इसप्रकार धर्मीजीव अपने एकत्वस्वभाव का अनुभव करते हैं।

देखो, यह ज्ञानी की एकत्व भावना ! ऐसी भावना वैराग्य को उत्पन्न करनेवाली माता है, आनन्द की जननी है। मुनिराज और तीर्थंकर भी दीक्षा के प्रसंग में ये बारह भावनायें भाते हैं। अनेक बड़े-बड़े ग्रन्थों में विस्तारपूर्वक इन वैराग्य भावनाओं का वर्णन किया गया है। प्रत्येक जीव को यह भावनायें भानी चाहिए। ये प्रत्येक प्रसंग में जीव को शान्ति प्रदान करती हैं।

यहाँ एकत्व भावना में कहते हैं कि हे भाई ! इस संसार में या मोक्षमार्ग में जीव अकेला अपने दुःख या सुख का वेदन करता है। रागादि

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

से भिन्न आत्मा के एकत्वस्वभाव की भावना में जीव स्वयं अपने में अकेला ही सुख का वेदन करता है; और रोग के समय मोह के उदय से दुःखी होता हो, तब भी स्वयं अकेला ही उस पीड़ा को भोगता है। कुटुम्बीजन पास में खड़े-खड़े देखते रहें; परन्तु उस पीड़ा में सहभागी नहीं हो सकते।

एक लुटेरा जंगल में एक संघ को लूट रहा था; तब संघ में रहनेवाले एक महात्मा ने कहा कि हे भाई! तू यह लूट-पाट करता है, परन्तु मेरी एक बात सुन! लूट-पाट से प्राप्त होने वाले धन को भोगने में तेरे कुटुम्बीजन भागीदार होते हैं क्या? जरा घर जाकर उनसे यह बात पूछ कर आ कि तुम सब यह धन भोगने में तो मेरे हिस्सेदार होते हो; परन्तु इस लूट-पाट से बँधने वाले पाप का फल भोगते समय नरकगति के दुःख में भी मेरे सहभागी बनोगे?

उस लुटेरे ने घर जाकर अपने कुटुम्बियों से उक्त प्रश्न पूछा; परन्तु पाप या दुःख में हिस्सा बँटाने के लिए कोई तैयार नहीं हुआ। तब महात्मा ने समझाया—

"सुन भाई! यह जीव स्वयं अकेला ही पुण्य-पाप भावों को करता है और अकेला ही उनका फल भोगता है, दूसरा कोई उसमें सहभागी नहीं हो सकता; इसलिये तू पाप छोड़कर अपने भविष्य को सुधार!"

यह सुनकर उस लुटेरे को वैराग्य आ गया और वह अपना एकत्व-स्वरूप समझकर पापमार्ग छोड़कर हित के मार्ग में लग गया।

देखो! जन्म से मरण तक सदा जीव के साथ-साथ (एक क्षेत्र में) रहने वाला यह शरीर भी जीव को सुख-दुःख में साथ नहीं देता। जिसके पोषण के लिए अज्ञानी जीवनभर पाप करता है, वह शरीर भी पाप का फल भोगने के लिये जीव के साथ नरक नहीं जाता और जीव मोक्ष में जाये तो वहाँ भी शरीर साथ नहीं जा सकता।

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

जब निकटवर्ती शरीर की ही यह स्थिति है, तो स्त्री-पुत्र-धन आदि तो प्रत्यक्ष भिन्न हैं; क्षेत्र से भी दूर हैं; वे सुख-दुःख में भागीदार कैसे हो सकते हैं? आपस में चाहे जितना प्रेम हो; परन्तु कोई एक-दूसरे का दर्द नहीं बांट सकता। एकत्व भावना का वर्णन करते हुए श्रीमद् राजचन्द्रजी लिखते हैं :—

शरीर मां व्याधि प्रत्यक्ष थाय, ते कोई अन्ये लई न शकाय।
ते भोगवे एक स्व-आत्म पोते, एकत्व सभी नय सुज्ञ गोते॥

दूसरों के लिये मैं जो पुण्य-पाप करूँगा, उसका फल मुझे अकेले ही भोगना पड़ेगा, इनमें मुझे किञ्चित् भी सुख नहीं है। परद्रव्यों से भिन्न मेरे एकत्वस्वभाव में ही सुख है — ऐसा विचार कर हे जीव! तू अपने स्वभाव की भावना कर। मैं दूसरों को सुखी-दुःखी कर दूँ या दूसरे मुझे सुखी-दुःखी कर दें — ऐसी पराश्रित बुद्धि छोड़। वास्तव में कोई जीव दूसरों के लिये कुछ नहीं करता। अपने भाव में जो उसे अच्छा लगता है, वही करता है। इसप्रकार जगत का प्रत्येक पदार्थ, चाहे वह जीव हो या अजीव, अपने-अपने एकत्व में वर्त रहा है। सभी अपने-अपने गुण-पर्यायरूप स्वभाव में रहते हैं। ऐसा एकत्व, वस्तु का स्वरूप है। ज्ञानी इसका चिन्तवन करते हैं।

पुण्य-पाप रहित चैतन्य स्वभाव में आत्मा का एकत्व शोभित होता है, उसमें अन्तर्मुख परिणति की एकता ही परमार्थ एकत्व भावना है। उस एकत्व में शुभाशुभ राग या कर्मफल का भोग नहीं है, उसमें तो अपूर्व वीतरागी आनन्द का ही अनुभव है। आत्मा अकेले ही अपने आनन्द को भोगता है। यहाँ आत्मा को अकेला ही कर्मफल का भोक्ता कहा है — यह व्यवहार एकत्व की बात है। शुद्ध आत्मा के एकत्व की भावना से शुभाशुभ कर्मफल का भोक्तापना भी छूट जाता है।

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

संसार में सभी स्वार्थ के सगे हैं। जब तक स्वार्थ सिद्ध होता है, तभी तक वे राग करते हैं और स्वार्थ पूरा होने के बाद सामने भी नहीं देखते। यदि कदाचित् सामने भी देखें, राग भी करें तो भी दूसरा कोई जीव इस जीव के लिये क्या कर सकता है? देखो न! कहाँ राम! कहाँ लक्ष्मण! और कहाँ सीता? हजारों वर्षों तक साथ में रहे; अन्त में राम गए मोक्ष में, सीता गई स्वर्ग में, लक्ष्मण और रावण गये तीसरे नरक में। अहमिन्द्र हुए सीताजी के जीव को दया आई; अतः वह लक्ष्मण और रावण को धर्म सम्बोधन के लिये गया। वहाँ दोनों को प्रतिबोध कर बैरभाव छुड़ाया और धर्म प्राप्त कराया। फिर दयावश उन्हें नरक के दुःखों से छुड़ाने के लिये उनके शरीर को उठाने लगा तो उनका शरीर पारे के समान बिखर गया। तब रावण और लक्ष्मण के जीव बोले — हे देव! तुम तो दयालु हो; परन्तु हमारे कर्म यहाँ से बाहर नहीं निकलने देंगे। हमारे किये गये पाप-कर्मों का फल हमें ही भोगना पड़ेगा। उसमें दूसरा कोई क्या कर सकता है? इसलिए हे देव! तुम अपने स्थान पर जाओ, यहाँ आकर हमें सम्बोधित करके तुमने बहुत उपकार किया है।

इस समय रावण नरक में है। भविष्य में वह जीव तीर्थंकर होगा और सीता का जीव उनका पुत्र होकर फिर उसी तीर्थंकर का गणधर होगा। लक्ष्मण का जीव भी भविष्य में तीर्थंकर होगा। इस संसार में कैसी विचित्रता है। यह जीव सदा अकेला है, इसे किसी और का सहारा नहीं है। बन्धमार्ग या मोक्षमार्ग में आत्मा अकेला ही परिणमता है। भगवान आत्मा राग-द्वेष, कर्म-नोकर्म से भिन्न और ज्ञानादि निज वैभव के साथ एकत्वरूप है। भेद-ज्ञान द्वारा ऐसे आत्मा के एकत्व की भावना करने पर अन्तर में अपूर्व शान्ति प्रगट होती है और आत्मा स्वयं ही अकेला उस शान्ति का वेदन करता है।

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

संसार में भ्रमण करते हुए जीव को पुण्य और पाप दोनों में आकुलता है तथा उनका फल भोगने में आकुलता है, चैतन्य के वेदन में ही शान्ति है। आत्मा अकेला ही अपनी अशुद्ध या शुद्ध परिणति का कर्ता और भोक्ता है। एक जीव के भावों का फल दूसरे को नहीं मिलता।

एक साथ १०० मकान बने हों, उनमें यह जीव एक मकान को अपना मानकर कहता है कि 'यह मकान मेरा है'। मेरे भाई! मकान तो १०० हैं, उनमें ९९ तेरे नहीं हैं तो एक तेरा कैसे हो गया? एक मकान को अपना कहना तो तेरी ममता की कल्पना है। मकान तो ईंट चूने का है, तेरा तो ज्ञानस्वभाव है। जिसके साथ तेरी तन्मयता हो, वही तेरा कहा जा सकता है। तेरी तन्मयता ज्ञान और आनन्द के साथ है; इसलिये वे तेरे हैं; मकान या देहादि के साथ तेरी तन्मयता नहीं है; इसलिये वे तेरे नहीं हैं। भाई! आत्मा की यह बात बड़ी मीठी और मजे की है। भेद-ज्ञान द्वारा आत्मा के ऐसे एकत्व को लक्ष में लेकर उसकी भावना तो कर!

जिसप्रकार जगत में अन्य शरीर इस आत्मा से भिन्न हैं; उसीप्रकार यह निकटवर्ती शरीर भी आत्मा से भिन्न ही है। जैसे अन्य शरीर के पुद्गल इस आत्मा से भिन्न, अचेतन हैं; उसीप्रकार इस शरीर के पुद्गल भी आत्मा से भिन्न और अचेतन हैं। यह जीव भ्रम से उन्हें अपना मानता है; परन्तु सर्वज्ञ भगवान जीव को सर्वदा उपयोग लक्षणवाला कहते हैं। समयसार में कुन्दकुन्दाचार्यदेव ने कहा है —

सर्वज्ञ ने देखा सदा उपयोग लक्षण जीव यह।
पुद्गलमयी हो किस तरह किस तरह तू अपना कहे॥ २४१॥

यह सुनकर अज्ञानी जीव कहता है - "और तो सब ठीक है; परन्तु आप कहते हैं कि शरीर भी आत्मा का नहीं है, तो हम क्या करें? कहाँ जायें?" अरे भाई! कहाँ जाना है? अन्यत्र कहीं नहीं जाना है, तू अपने एकत्व स्वरूप को दृष्टि में लेकर उसमें स्थिर रह। अज्ञानी भी अपने आत्मा

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

में से बाहर निकलकर शरीरादि परद्रव्यों में नहीं जाता; उसरूप नहीं होता, वह भी अपने ज्ञान या रागादि भावों में रहता है। ज्ञानी अपने ज्ञानमय भाव में एकत्व करके रहते हैं। अज्ञानी या ज्ञानी किसी का कार्यक्षेत्र अपने आत्मा से बाहर नहीं है, अपने में ही है।

एक वैरागी पुत्र दीक्षा लेने तैयार हुआ, तब उसकी माता कहती है; "बेटा, वन जंगल में कुटुम्ब परिवार बिना अकेला-अकेला तू क्या करेगा? वहाँ तुझे अकेले कैसे सुहायेगा? " तब वह वैरागी पुत्र कहता है "हे माता! मैं वन जंगल में अकेला नहीं हूँ, वहाँ भी मेरे श्रद्धा, ज्ञान, शान्ति, आनन्द आदि अनन्त चैतन्यगुणों का परिवार मेरे साथ है, उनके साथ गोष्ठी करने में मुझे महान आनन्द होगा।

ज्ञानी जानते हैं कि हमारी चीज हमारे पास है, हमारे अन्तर में है। जो हमसे दूर हो, बाहर हो वह चीज हमारी नहीं है। जो हमारी चीज है, वह हमसे जुदा नहीं रह सकती। जिसका हमारे स्वभाव में एकत्व हो, वही हमारी चीज है। इसप्रकार ज्ञानी जीव क्रोधादि परभावों और शरीरादि परद्रव्यों को अपने स्वभाव में किञ्चित् नहीं मिलाते हुए, उनसे अत्यन्त भिन्न अपने चैतन्य के एकत्व स्वभाव की भावना भाते हैं अर्थात् उसे दृष्टि में लेकर उसमें एकाग्र होते हैं। ऐसी एकत्व भावना द्वारा परम आनन्द होता है और मोक्ष की साधना होती है।

इसप्रकार एकत्व भावना का वर्णन पूरा हुआ।

***

आज मैं परम पदारथ पायौ, प्रभुचरनन चित लायो।
अशुभ गये शुभ प्रगट भये हैं, सहज कल्पतरु छायौ॥ १॥
ज्ञानशक्ति तप ऐसी जाकी, चेतनपद दरसायौ॥ २॥
अष्टकर्म रिपु जोधा जीते, शिव अंकूर जमायौ॥ ३॥

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

अन्यत्व भावना

अब अन्यत्व भावना का वर्णन करते हुए पण्डित दौलतरामजी कहते हैं :—

जल-पय ज्यों जिय तन मेला, पै भिन्न-भिन्न, नहिं भेला।
तो प्रगट जुदे धन धामा, क्यों है इक मिलि सुत-रामा॥ ७॥

जीव और शरीर, दूध और पानी के समान संयोगरूप में मिले हैं; तो भी जैसे वास्तव में दूध और पानी भिन्न-भिन्न हैं, वैसे जीव और शरीर भिन्न-भिन्न हैं, एक रूप नहीं।

जहाँ एक क्षेत्र में रहनेवाला शरीर भी आत्मा से भिन्न है, तो फिर प्रगटरूप से भिन्न अर्थात् क्षेत्र से भी दूर रहनेवाले धन, मकान, स्त्री-पुत्रादि आत्मा के साथ एकमेक कैसे हो सकते हैं? आत्मा उन सबसे जुदा है और वे सब आत्मा से जुदे हैं। इसप्रकार अन्यत्व भावना भाते हुए धर्मी जीव वीतरागता की पुष्टि करते हैं।

यहाँ दूध और पानी के संयोग का उदाहरण आत्मा और शरीर की भिन्नता बताने के लिए है। जैसे मिले हुए होने पर भी दूध और पानी के लक्षण भिन्न-भिन्न हैं, वैसे संयोगरूप में रहने पर भी आत्मा और शरीर के लक्षण भिन्न-भिन्न हैं। आत्मा चेतन है, शरीर जड़ है, आत्मा में सुख स्वभाव है, शरीर में सुख-दुख का वेदन नहीं है। आत्मा अतीन्द्रिय है - इन्द्रियज्ञान का विषय नहीं है, शरीर इन्द्रियज्ञान से भी ज्ञात होता है। आत्मा असंयोगी वस्तु है, शरीर पुद्गलों के संयोग-वियोग वाला है। आत्मा अमूर्त्त है, शरीर मूर्त्त है, रूपी है। इसप्रकार भिन्न-भिन्न लक्षणों द्वारा पहचानने पर आत्मा और शरीर की भिन्नता स्पष्ट ज्ञात होती है। इसीप्रकार चेतना लक्षण द्वारा आत्मा समस्त परद्रव्यों और परभावों से भिन्न अनुभव में आता है। ऐसे अनुभवपूर्वक बारम्बार उसका घोलन करना अन्यत्व भावना है।

अन्यत्व भावना भाते हुए श्रीमद्राजचन्द्रजी ने लिखा है —

ना मारा तन, रूप, कान्ति, युवती, ना पुत्र के भ्रात ना;
ना मारा मृत-स्नेहिओ-स्वजन के ना गोत्र के गात्र ना।

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

ना मारा धन-धाम-यौवन धरा, ए मोह अज्ञान ना,
रे रे जीव ! विचार एमज सदा, अन्यत्वदा भावना ॥

देखो ! मात्र १६ वर्ष की उम्र में धर्मात्मा जीव के वैराग्य पूर्ण उद्‌गार ! जन्म से सदा साथ रहनेवाला यह शरीर भी आत्मा से अत्यन्त भिन्न है, आत्मा का नहीं है, तो फिर स्पष्टरूप से आत्मा से बाह्य स्त्री-पुत्र, भाई, नौकर-चाकर, स्नेही-स्वजन, धन-मकान आदि आत्मा के कैसे हो सकते हैं ? मोह और अज्ञान से आत्मा उन्हें अपना मानता है, उनके लिए 'मेरा-मेरा' कहकर स्वयं भावमरण करता है। हे जीव ! इस भावमरण से बचने के लिए तू बारम्बार भेद-विज्ञान द्वारा अन्यत्व का विचार कर। भगवान आतमराम, रामा अर्थात् स्त्री से अत्यन्त भिन्न है। वह अपने चैतन्य बाग में रमने वाला है। जो अपने चैतन्यबाग में रमे, उसे राम कहते हैं तथा जो राग और विषयों में रमता है, उसे हराम कहते हैं।

जैसे डिब्बी में रखा हुआ हीरा डिब्बी से भिन्न है, वैसे देहरूपी डिब्बी में रखा हुआ चैतन्य हीरा देह से भिन्न है। जब डिब्बी में रखा होने पर हीरा डिब्बी से भिन्न है, तब बाहर की अन्य वस्तुओं से तो भिन्न है ही। जिसप्रकार आठ लकड़ियों से बने हुए पलंग पर सोनेवाला मनुष्य पलंग से भिन्न है; उसीप्रकार आठ कर्मों के संयोग से रचित संसार में रहने वाला उपयोगस्वरूप जीव, कर्मों से भिन्न है। उपयोगस्वरूपी जीव क्रोधादि परभावों से भी भिन्न है। धर्मीजीव भेद-विज्ञान द्वारा उसका अनुभव करते हैं। उन्हें ऐसे अनुभवपूर्वक सच्ची अन्यत्व भावना होती है।

ज्ञायकस्वभावी भगवान-आत्मा एकत्व-विभक्तरूप है; वह अपने स्वभावों से एकत्वरूप तथा परभावों से विभक्तरूप है। स्वभाव में एकत्वरूप परिणमन होने पर समस्त परभावों से भिन्नता हो जाती है अर्थात् अपने में एकत्व परिणमन होने पर समस्त परभावों से भिन्नता हो जाती है।

इसप्रकार एक भावना में दूसरी भावना भी समा जाती है। स्वभाव के शुद्ध परिणमन में बारह भावनाओं का फल आ जाता है। उसमें

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

वीतरागता और आनन्द तथा सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र सभी कुछ आ जाता है। स्वभाव का अवलम्बन करनेवाला आत्मा आस्रव से छूटकर संवर-निर्जरा रूप हो गया, संसार से छूटकर धर्मरूप हो गया, अनादिकाल से दुर्लभ रत्नत्रयरूप बोधि उसे सुलभ हो गई, लोक का स्वरूप जानकर अब वह लोकाग्र अर्थात् सिद्धालय की ओर चलने लगा।

जिसने अनित्य-अशरण-अशुचिरूप परभावों से छूटकर नित्य, शरणरूप और पवित्र ऐसे शुद्धात्मा का आश्रय किया; उसे अब अशरणपना और अशुचिपना नहीं रहा, अन्य का सम्बन्ध छोड़कर वह अब अपने एकत्व में आ गया। ऐसी दशा उत्पन्न हो तो सच्ची भावना भाना कहा जाये। तत्त्वार्थसूत्र में इन बारह भावनाओं का फल संवर कहा है। प्रत्येक मुमुक्षु को आत्महित के लिये ये भावनायें भाना चाहिये।

यह चैतन्यस्वरूप भगवान-आत्मा अपने गुण-पर्यायों का पवित्र पिण्ड है और अन्य समस्त द्रव्यों के गुण-पर्यायों से भिन्न है। स्व और पर, जड़ और चेतन— इन दोनों वस्तुओं के द्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव भिन्न-भिन्न हैं। जिसप्रकार दो उंगलियाँ भिन्न-भिन्न हैं, अथवा हिमाचल और विन्ध्याचल पर्वत भिन्न-भिन्न हैं; उसीप्रकार जीव और शरीर भिन्न-भिन्न हैं, दोनों के प्रदेश एक दूसरे से भिन्न-भिन्न हैं, दोनों के गुण-पर्याय जुदे हैं, लक्षण जुदे हैं, कार्य जुदे हैं, उनमें किञ्चित् भी एकता नहीं है, सर्वप्रकार से अन्यत्व है।

अरे ! अन्तर में सूक्ष्म भेद-विज्ञान किया जाए तो चेतना और राग में भी भिन्नता भासित होती है। दोनों का स्वाद एक दूसरे से बिल्कुल भिन्न-भिन्न है। चेतना में शान्ति है, रागादि में आकुलता है; इसप्रकार भेद-ज्ञान द्वारा क्रोधादि आस्रवभावों को और आत्मा के चैतन्यस्वभाव को भिन्न जानकर वीतरागभावों की वृद्धि करते हुए अपने स्वभाव में एकत्वरूप परिणमन करना अन्यत्व भावना का फल है।

इसप्रकार अन्यत्व भावना का वर्णन पूरा हुआ।

***

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

अशुचि भावना

अब अशुचि भावना का वर्णन करते हुए पण्डित दौलतरामजी कहते हैं :—

पल-रुधिर-राध-मल थैली, कीकस वसादितैं मैली।
नव द्वार बहैं घिनकारी, अस देह करे किम यारी॥ ८॥

यह काया खून, माँस, पीप, मल-मूत्रादि से भरी हुई है अर्थात् मलिनता से भरी हुई थैली है; वह हड्डी, चरबी आदि से मैली है; उसमें आँख, कान, नाक, मुंह आदि नव द्वारों से थूँक, लार आदि दुर्गन्ध युक्त घृणित पदार्थ बहते रहते हैं। अरे जीव! सर्वप्रकार से अपवित्र काया से तू प्रीति क्यों करता है? तू देह से भिन्न परम पवित्र चैतन्यमूर्ति भगवान आत्मा है, तेरे अनन्त गुणों में से आनन्दरस की धारा बहती है; अतः तू अपने को जान और काया की माया छोड़ दे।

यह शरीर तो जड़ है, अशुचिता से भरा हुआ है और अन्दर में (जीव की पर्याय में) उत्पन्न होने वाले क्रोधादिभाव भी मलिन हैं; जीव को अशुद्ध करने वाले हैं। चेतनस्वभावी भगवान आत्मा पवित्र है तथा क्रोधादि मलिनभावों से भिन्न है। समयसार की ७२ वीं गाथा में कुन्दकुन्दाचार्यदेव लिखते हैं —

इन आस्रवों की अशुचिता विपरीतता को जानकर।
आतम करे उनसे निवर्तन दुःख कारण मानकर॥

शरीर और रागादि अशुद्धभावों को अशुचिरूप जानने का फल, उनसे पीछे हटना है अर्थात् भेद-ज्ञान के द्वारा शरीरादि से भिन्न आत्मा का शुद्ध स्वरूप जानकर उसके आश्रय से वीतरागभावरूप पवित्रता प्रगट करना है।

जिस चिदानन्दस्वरूप का भान है, वह इन भावनाओं के द्वारा वस्तुस्वरूप का विचार करके वैराग्य की वृद्धि करता है। जो जीव वस्तुस्वरूप को नहीं जानता, वह शरीरादि में सुख मानता है। अरे भाई!

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

तू विचार तो कर कि पुद्गल के पिण्ड इस अचेतन शरीर में सुख किस जगह भरा है? शरीर में हड्डी, चमड़ी, विष्टा आदि के अलावा और क्या भरा है? यह शरीर मलिनता से भरा है तथा ऊपर चमड़ी से ढका हुआ है, यदि इसे खोलकर देखें तो ऐसा घृणाजनक दृश्य दिखेगा कि उसे देखने के लिए कोई खड़ा भी न रहे। ऐसे शरीर में रहने वाला भगवान आत्मा ऐसा पवित्र पदार्थ है कि उसे देखते ही आनन्द की उत्पत्ति होती है। भाई! तू काया का प्रेम छोड़कर अपने आत्मा से प्रेम कर।

काया की विचारी माया स्वरूपे समाया ऐसे....
निर्ग्रन्थ का पन्थ भव अन्त का उपाय है।

अहो! मोक्षमार्गी निर्ग्रन्थ मुनिराज काया के प्रति उदासीन वर्तते हुए स्वरूप में लीन होकर आनन्द में झूलते हैं। जैसे वन में वनराज सिंह विचरण करता है, वैसे मुनिराज विचरण करते है; मानो परमात्मा ही वनविहार कर रहे हों। ऐसे मुनि भगवन्त भव का अन्त करके सिद्धदशा प्राप्त कर लें — इसमें क्या आश्चर्य है? भाई! मोक्ष का मार्ग तो यही है। मुझे भी मोक्षदशा प्राप्त करना हो तो काया की माया छोड़कर चैतन्यस्वरूप में एकाग्रता कर।

लोक में ऐसी कहावतें प्रसिद्ध हैं — "शरीर से सुखी तो सबमें सुखी" या "पहला सुख निरोगी काया" परन्तु यह भाषा देह में एकत्वबुद्धि वाले अज्ञानी जीवों की है। ज्ञानी तो कहते हें कि काया की माया छोड़कर अपने स्वरूप में समानेवाला ही वास्तव में सुखी होता है। सुख तो आत्मा का स्वभाव है; परन्तु उसे भूलकर जो काया में सुख मानता है, वह काया की ममता कभी नहीं छोड़ सकता। जिसने देह में सुख माना उसने देह को अपना माना, वह देह की ममता के कारण संसार में पुनः-पुनः देह को ही धारण करेगा, उसके भव का अन्त नहीं होगा। यहाँ तो भव का अन्त करने की बात है। हे जीव! तू देह से भिन्न आत्मा के स्वभाव का ऐसा प्रेम कर, ऐसी भावना कर कि इसी समय भव के अन्त की आवाज आ

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

जाये। भाई, चारों गति के किसी संयोग में सुख नहीं है, सुख तो आत्मा का स्वभाव है। आत्मा का मोह रहित भाव ही सुख है, उसके अलावा और कहीं सुख नहीं है, शुभराग भी अशुचि है, उसमें सुख नहीं है, वह स्वयं दुखरूप है।

चैतन्यस्वभावी भगवान आत्मा स्वयं पवित्र है, उसमें क्रोधादि कषायरूप कलुषता या मलिनता नहीं है। देह को अशुचि कहना तो उपचार है; क्योंकि पुद्गल में अशुचिता क्या? और शुचिता क्या? वह तो अपने स्वभावरूप परिणमता है। वास्तविक अशुचिता तो कषायभावों में है, वे मलिन हैं, अशुद्ध हैं, जीव को दुखदायक हैं — ऐसा विचार करके अपने शुद्धस्वभाव की भावना द्वारा कषाय का नाश करना अशुचि भावना का फल है। स्वभाव की सन्मुखता के बिना मात्र पर के लक्ष्य से सच्ची वैराग्यभावना नहीं होती।

अहा! कहाँ आत्मा की पवित्रता, जिसमें अनन्त आनन्द की खान भरी है और कहाँ देह की अपवित्रता कि जिसमें मल-मूत्र की खान भरी है। अशुचि भावना का वर्णन करते हुए श्रीमद्राजचन्द्रजी लिखते हैं —

खान मलमूत्र की, रोग जरा का निवास धाम।
काया ऐसी मानकर मान त्याग कर सार्थक आम॥[1]
शुद्ध बुद्ध चैतन्यघन स्वयं ज्योति सुख धाम।
और कहो कितना कहें, कर विचार तो पाम॥[2]

आत्मा 'स्वयं ज्योति सुखधाम' है और शरीर 'रोग जरा का धाम है', आत्मा चिदानन्द की खान है और शरीर मल-मूत्र की खान है — ऐसा विचारने वाले धर्मात्मा मात्र देह की अशुचिता को ही नहीं देखते रहते; परन्तु उससे भिन्न परम शुचिरूप आनन्द की खान स्वरूप भगवान आत्मा में एकाग्र होते हैं, जिससे अशुचिता मिटकर परम पवित्र अनुभूति प्रगट होती है, वीतरागता होती है। हे आत्मा! तू महापवित्र आनन्द की

---

१. इसप्रकार २. प्राप्त कर

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

खान है, मल-मूत्र की खानरूप इस शरीर से प्रीति तुझे शोभा नहीं देती। अरे रे! चैतन्यमूर्ति भगवान आत्मा इस मृतक कलेवर में मूर्छित क्यों हो रहा है! जिसकी ममता से यह आत्मा दुखी होता है, चार गतियों में रखड़ता है, उस शरीर से क्या ममता करना? हे जीव! देह में आत्मबुद्धि कर-कर के तू बहुत दुखी हुआ, अब यह देहबुद्धि छोड़ और चैतन्य प्रभु भगवान आत्मा में आत्मबुद्धि कर। भगवान आत्मा में गोष्ठी तुझे महान सुख देगी।

अनन्त गुणों से भरपूर यह भगवान आत्मा आनन्द का कारखाना है और मल-मूत्र से भरपूर यह शरीर अनाज में से विष्टा बनाने का कारखाना है। इसमें मेसूरपाग, श्रीखंड, आमरस आदि चाहे जैसे बढ़िया से बढ़िया पदार्थ डाले जायें, पर यह उन सबको दो-चार घड़ी में विष्टा बना देती है। दुनियाँ में ऐसा कोई साँचा नहीं है, जो अनाज को विष्टा बना सके।

इस शरीर में मांस, चर्बी, खून, पीप आदि दुर्गन्धित पदार्थ भरे हैं, सुख तो किञ्चित् भी नहीं है — ऐसे शरीर से क्या प्रीति करना? इसे धारण करना, अपना मानना तो मेरे लिए कलंक है, शर्मनाक है। आत्मा तो इससे विपरीत ज्ञान-आनन्द आदि अनन्तु गुणों की खान है। अतीन्द्रिय आनन्द और केवलज्ञान उत्पन्न करने का कारखाना है। उसमें अन्तर्मुहूर्त तक एकाग्र होते ही उसमें से केवलज्ञान का उत्पादन शुरू हो जाता है और प्रति सेकण्ड में असंख्यात बार केवलज्ञान उत्पन्न होता है।

हे भाई! तू अपने महापवित्र और अनन्त गुणों के भण्डार आत्मा से प्रीति कर तो तेरे शरमजनक जन्म-मरण दूर हो जायेंगे, फिर से माता के पेट में नहीं जाना पड़ेगा। अरे रे! भगवान आत्मा को ऐसा मलिन शरीर धारण करना पड़े, नौ माह तक माता के गर्भ में मलिन वस्तुओं के बीच में उलटे मुख लटकना पड़े — यह शरम की बात है। सिद्ध समान

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

भगवान आत्मा को ऐसा गर्भवास शोभा नहीं देता। हे जीव! यदि तेरा चित्त ऐसे जन्म-मरण से भयभीत हो और तू इससे छूटना चाहता हो तो तू ध्यान द्वारा अपने सिद्ध समान आत्मा को देख। आत्मा का ध्यान करने की प्रेरणा देते हुए योगीन्दु मुनिराज कहते हैं —

चार गति दुख से डरे, तो तज सब परभाव।
शुद्धातम चिन्तन करे, शिव सुख का ले लाभ॥
निज अन्तर में ध्यान से, जो देखे अशरीर।
शरम जनक जन्मो टले, पिये न जननी क्षीर॥

अशरीरी आत्मा को शरीर के साथ जन्म धारण करना शरमजनक है। देह से भिन्न आत्मा को जानकर अशरीरी सिद्धपद की साधना करने में ही आत्मा की शोभा है।

प्रश्न — मनुष्य देह को तो शुभ भी कहा जाता है न? श्रीमद् राजचन्द्रजी ने भी लिखा है —

"बहु पुण्य पुन्ज प्रसंग से शुभ देह मानव का मिला।"

उत्तर — उन्होंने शरीर को शुभ नहीं कहा; परन्तु संज्ञी मनुष्यपना अर्थात् आत्मा को समझने योग्य क्षयोपशम तथा धर्म साधन के अवसर को शुभ कहा है। इस अपेक्षा से मनुष्य अवतार को भी शुभ कहा जाता है। उक्त पंक्ति के बाद यह भी तो लिखा है — **"तो भी अरे भव चक्र का फेरा न एक कभी टला"** अर्थात् यदि विषयकषायों में ही यह मनुष्यपना गँवा दें तथा आत्मा को भवचक्र से छुड़ाने की दरकार न करें तो इस मनुष्य भव की फूटी कौड़ी जितनी भी कीमत नहीं है। मनुष्यपने की दुर्लभता शरीर की महिमा बताने के लिये नहीं कही; परन्तु धर्मसाधना की प्रेरणा देने के लिए कही है कि यह दुर्लभ मनुष्यदेह पाकर इस जीवन को विषय-भोगों में ही मत गँवा देना; परन्तु आत्मा की दरकार करके भव के अन्त का उपाय करना। अतः वास्तव में शरीर की नहीं, अपितु धर्म की दुर्लभता बताई है।

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

आत्मा है तो शरीर की भी शोभा है, अंदर से आत्मा निकल जाये तो तुरन्त ही शरीर सड़कर गंधाने लगता है। चाहे जैसा रूपवान और युवा शरीर हो; परन्तु यदि ऊपर की पतली चमड़ी निकाल दी जाए तो अंदर इतना घृणास्पद शरीर है कि उसकी ओर देखा भी नहीं जायेगा; जबकि चैतन्यतत्त्व इतना सुन्दर है कि उसे स्वानुभूति द्वारा देखा जाए तो उसमें अपूर्व ज्ञान और आनन्द के फुहारे निकलेंगे। शरीर में तो खून और मांस निकलता है और आत्मा में से ज्ञान और आनन्द निकलता है। "जो शरीर से सुखी, वह सबमें सुखी" ऐसा लोक में कहा जाता है; परन्तु यह बात सत्य नहीं है। तन्दुरुस्त होने पर भी कोई जीव क्रोध, मान आदि से सुलगता हुआ महादुखी होता रहता है। अरे! देवलोक के जीवों का शरीर कितना सुन्दर और निरोग होता है; परन्तु वे मोह से दुखी होते हैं।

शरीर, जीव को सुखी को नहीं कर सकता; क्योंकि वह स्वयं जड़ है तो दूसरे को सुखी कैसे करेगा? सुख तो आत्मा में है; इसलिए "जो आत्मा से सुखी वह सब में सुखी" यही बात सत्य है; क्योंकि जिसे आत्मा की श्रद्धा-ज्ञान और अनुभव द्वारा अतीन्द्रिय सुख प्रगट हुआ है; उसे देहादि की प्रतिकूलता भी सुख में बाधक नहीं होती; क्योंकि वह सुख स्वभाव में से आया है, संयोगों के लक्ष्य से नहीं, आत्मा स्वयं ही उस सुखरूप परिणमा है।

अहा! भगवान आत्मा तो ऐसा महिमावन्त है कि जिसके स्वभाव के स्मरण मात्र से जीव दुःख को भूल जाये और उसे शान्ति प्राप्त हो, तो फिर उसके साक्षात् अनुभव से उत्पन्न होने वाले सुख की क्या बात कहें? सोने की खान खोदने पर सोना निकलता है और लोहे की खान खोदने पर लोहा निकलता है। आत्मा और शरीर भी बिल्कुल अलग-अलग खानें हैं। आत्मा की खान खोदने पर (उसमें एकाग्रता करने पर)

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

सम्यग्दर्शन, ज्ञान, आनन्द, आदि पवित्र रत्न निकलते हैं और शरीर की खान में से मलिनता ही निकलती है। शरीर की बात तो स्थूल है, वास्तव में तो क्रोधादि भावरूप आस्रव भी जीव के स्वभाव से भिन्न अशुचि रूप हैं।

समयसार की टीका में आचार्यदेव आत्मा की पवित्रता और आस्रवों की अशुचिता का वर्णन करते हुए लिखते हैं —

१. भगवान आत्मा स्व-पर को चेतने वाला (जानने वाला) होने से चेतनस्वभावी है और क्रोधादि आस्रव अपने को और पर को जान नहीं सकते (वे आत्मा द्वारा जाने जाते हैं) इसलिए वे जड़स्वभावी हैं।

२. ज्ञायक स्वभावी भगवान आत्मा का अनुभव अत्यन्त पवित्र है और क्रोधादि आस्रव भावों का अनुभव अत्यन्त मलिन है।

३. भगवान आत्मा स्वयं सदा निराकुल स्वभावी होने से उसका अनुभव परम आनन्द उत्पन्न करने वाला है और क्रोधादि आस्रवभाव आकुलता स्वरूप होने से उनका अनुभव दुःख उत्पन्न करने वाला है।

देखो! उक्त तीनों बोलों में आचार्यदेव ने आत्मा को भगवान कहा है। इसप्रकार भगवान आत्मा और क्रोधादि की भिन्नता जानते ही जीव की परिणति अपने पवित्र स्वरूप में तन्मय होकर क्रोधादि अशुचि भावों से छूट जाती है; यही सच्ची अशुचि भावना है और वीतरागतारूप शुचिता प्रगट होना उसका फल है।

अरे जीव! तू स्वयं ऐसा महान आत्मा है कि दिगम्बर सन्त भी तुझे भगवान कहकर बुलाते हैं। ऐसे आत्मा की लगनी न करके तू मृतक कलेवर रूप शरीर की लगनी में मोहित हो गया है - यह तुझे शोभा नहीं

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

देता। अरे भाई ! जिसमें अनन्त सुख भरा है, जो सुख स्वरूप है; उसी के लक्ष्य से सुख उत्पन्न होता है। परन्तु जिसमें सुख है ही नहीं - ऐसे शरीर के लक्ष्य से सुख कैसे उत्पन्न होगा ? जहाँ सुख नहीं है, वहां से सुख लेना चाहें तो मात्र आकुलता अर्थात् दुःख ही होगा; तृप्ति नहीं होगी। धर्मात्मा जीव अपने आत्मा को शरीरादि समस्त पदार्थों से भिन्न जानते हैं, मैं स्वयं अनन्त सुख आदि गुणों की खान हूँ — ऐसा जानकर सदा पवित्र आत्म स्वभाव की भावना करते हैं तथा उसमें लीन होते हैं। अतः उनके सर्वप्रदेशों में आनन्द का झरना झरता है।

शरीर में तो सर्वत्र मलिनता भरी है, नवद्वारों से मैल झरता रहता है। भगवान आत्मा के असंख्यात प्रदेशों में सर्वत्र पवित्रता भरी है और नव क्षायिक लब्धि द्वारा उसके सर्वांग में अनन्त आनन्दरस का झरना झरता है, सर्वप्रदेशों में मात्र शान्ति....शान्ति और शान्ति का अनुभव होता है। शरीर के मैल को छूते ही घृणा और शरम उत्पन्न होती है, जबकि चैतन्य के निधान पर नजर करते ही जीव निहाल हो जाता है और उसे सम्यग्दर्शन रूपी अपूर्व नजराना मिलता है।

देखो यह अशुचिभावना ! अशुचिभावना में मात्र शरीर की अशुचिता का ही विचार नहीं किया जाता; बल्कि चैतन्यस्वभाव की शुचिता का विचार करके उसमें एकाग्र होने की भावना भाई जाती है। अरे जीव ! तू अपने महापवित्र गुण भण्डार को छोड़कर मलिनता के भण्डार में क्या लेने जाता है? उससे भाई-बंदी क्यों करता है? अपने स्वभाव से प्रेम क्यों नहीं करता? अहा ..... केवली भगवान भी जिसका बखान करते हैं—तू ऐसी चैतन्य वस्तु है; तुझसे ऊँची जगत में कोई दूसरी वस्तु नहीं; अपने चैतन्य स्वभाव की प्रीति छोड़कर तू देह में मूर्च्छित क्यों हो गया है? स्वभाव की प्रीति करके उसमें एकाग्र होकर

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

सुख का अनुभव करने के लिए तुझे शरीरादि किसी की जरूरत नहीं है, तू स्वयं अपने स्वभाव की महिमा कर। स्वरूप में एकाग्र होकर सुख-शान्ति का वेदन कर सकता है। अतः भेदज्ञान द्वारा देह को अपने से भिन्न जानकर देहबुद्धि छोड़ और आत्मा में बुद्धि जोड़; इससे तुझे परम सुख होगा।

मूढ़ जीव मोह से ऐसा मानते हैं कि रूपवान शरीर में से सुख मिल जाएगा? परन्तु भाई ! जिसमें अपवित्र पदार्थ भरे हैं, जिसके स्पर्श से चन्दनादि उत्तम वस्तुएँ भी अपवित्र हो जाती हैं — ऐसे शरीर से सुख कैसे मिल जाएगा? अतः उसका मोह छोड़। तेरा चैतन्यतत्व अनन्त पवित्र गुणों से भरा है, उसके स्पर्श से ही आनन्द उत्पन्न होता है, उसमें उपयोग जोड़। अहा ! प्रेमपूर्वक आत्मा की बात सुनने से भी तू निहाल हो जाएगा और उसका अनुभव करने पर मोक्षसुख के नमूने का स्वाद आ जाएगा। ऐसे आत्मा को भूलकर मूर्ख जीव शरीर की ममता करते हैं तथा जरा सी प्रतिकूलता आने पर आर्तध्यान करके अशुभकर्म बाँधकर भविष्य में वर्तमान से भी अधिक दुःखी होते हैं।

किसी सम्यग्दृष्टि का शरीर रोगी हो तथा मिथ्यादृष्टि का शरीर निरोगी हो; परन्तु यह तो सब कर्मोदय का खेल है। धर्मी तो अपने को शरीर से भिन्न जानते हैं। 'मैं धर्मात्मा हूँ, फिर भी मुझे रोग आ गया और पापी जीवों का शरीर निरोगी है'— ऐसा विचार कर वे घबराते नहीं हैं; अपितु 'शरीर में रोग हुआ, इससे मुझे क्या? शरीर का धर्म शरीर में और मेरा धर्म मुझमें, रोग तो शरीर का धर्म (स्वभाव) है मेरा धर्म नहीं; मेर धर्म तो ज्ञान और आनन्द हैं, उसका शरीर से कोई सम्बन्ध नहीं; शरीर में रोग होने पर भी मैं अपने चैतन्य की निरोगी शान्ति का वेदन कर सकता हूँ'— इसप्रकार भेदज्ञान के द्वारा धर्मीजीव शान्ति का वेदन

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

करते हैं और उसमें वृद्धि करते-करते केवलज्ञान प्राप्त करके मोक्ष चले जाते हैं। उन्हें साधकदशा में ही मोक्ष की शान्ति का नमूना ख्याल में आ जाता है। अज्ञानी जीव क्रूर परिणामों से हिरण आदि का शिकार करके क्रूरता से नाचते हैं। वे क्रूरता बढ़ाकर नरक में जायेंगे। उनके भावों में नरक का नमूना यहीं दिखाता है न! ऐसे जीव नरक में न जायें तो कहाँ जायें? पापी जीवों के परिणामों में नरक के दुःखों का नमूना है और धर्मी जीव के परिणामों में मोक्षसुख का नमूना है।

भाई! भगवान आत्मा पाप-पुण्यरूप मलिन परिणामों से भिन्न है, परमपवित्र है। अतः आत्मा का विचार करके उसके सन्मुख होकर उसमें एकाग्रता करके यहीं मोक्ष सुख के स्वाद का नमूना चख ले। आत्म-सन्मुखता में ही सच्ची शान्ति और पवित्रता है।

इसप्रकार अशुचि भावना का वर्णन पूरा हुआ।

***

जम आन अचानक दावैगा।
छिन-छिन कटत घटत थित ज्यौं जल, अंजुलिको झर जावैगा॥
जन्म तालतरुतैं पर जिय फल, कोंलग बीच रहावैगा।
क्यों न विचार करें नर आखिर, मरन महीमें आवैगा॥
सोवत मृत जागत जीवत ही, श्वासा जो थिर थावैगा।
जैसै कोऊ छिपै सदासौं, कबहूँ अवसि पलावैगा॥
कहूँ कबहूँ कैसें हू कोऊ, अन्तकसे न बचावैगा।
सम्यकज्ञानपियूष पिये सौं, 'दौल' अमरपद पावैगा॥

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

आस्रव भावना

अब आस्रव भावना का वर्णन करते हुए पण्डित दौलतरामजी कहते हैं :—

जो योगन की चपलाई, तातैं है आस्रव भाई।
आस्रव दुखकार घनेरे, बुधिवन्त तिनहें निरवेरे ॥ ९ ॥

मन-वचन-काय सम्बन्धी योगों की चंचलता द्वारा कर्मों का आस्रव होता है। ये आस्रव जीव को बहुत दुःख देने वाले हैं; इसलिए बुद्धिमान जीव इन्हें दूर करते हैं।

यहाँ आस्रव को दुःखकार कहा है, उसमें पाप और पुण्य सभी आस्रव आ गए। सभी आस्रव दुःखकारी हैं द्रव्यकर्म का आस्रव तो निमित्तरूप है, वास्तव में जिस भाव से कर्म का आस्रव होता है, वह मोहरूप कषायभाव ही जीव को दुःखरूप है। इसप्रकार आस्रवों को दुःखरूप चिन्तन करके धर्मी जीव उनसे निवृत्त हो जाते हैं। आस्रवों को दूर करना ही आस्रव भावना है।

देखो ! कहा जाता है 'आस्रव भावना'; परन्तु उसमें आस्रव की भावना नहीं है, भावना तो शुद्ध आत्मा की है, आस्रव से छूटने की है। यदि कोई मात्र आस्रव का विचार करता रहे; परन्तु उससे पीछे हटकर आत्मसन्मुख न हो, तो सच्ची आस्रव अनुप्रेक्षा या वैराग्य भावना नहीं कही जाती। अन्य सभी भावनाओं में भी यह बात समझ लेना चाहिए।

आचार्य कुन्दकुन्ददेव समयसार गाथा ७१ में कहते हैं —

आत्मा अर आस्रवों में भेद जाने जीव जब।
जिनदेव ने ऐसा कहा कि नहीं होवे बन्ध तब ॥

क्रोधादि आस्रव दुःखरूप हैं और आत्मा का स्वभाव सुखरूप है? आत्मा चैतन्य के साथ तन्मय है, क्रोधादि चैतन्य से तन्मय नहीं है — इसप्रकार आत्मा और आस्रवों का भिन्न-भिन्न लक्षणों द्वारा उनमें अन्तर

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

और भिन्नता जानते ही यह जीव चैतन्यस्वरूप आत्मा में अपनापन और क्रोधादि आस्रवों में परायापन मानकर स्वभावरूप परिणमने लगता है और क्रोधादि से भिन्न हो जाता है।

आस्रव भावना अर्थात् आस्रवों को रोकने वाली भावना। कर्मों का संयोग द्रव्यास्रव है तथा उनके कारणरूप मिथ्यात्वादि भाव भावास्रव हैं। ये भावास्रव जीव को दुःखकारी हैं। पाप-पुण्य, अशुभ-शुभ आदि सभी भाव आस्रव हैं और दुःख के कारण हैं। जिन भावों से कर्म की १४७ प्रकृतियाँ बँधती हैं, वे सभी बन्धभाव दुःख के ही कारण हैं। आत्मा का चिदानन्द स्वभाव बन्धरहित है, उसमें कर्म का सम्बन्ध नहीं हैं। ऐसे स्वभाव के सन्मुख होने पर नए कर्म नहीं आते, पुराने कर्मों का बन्ध छूट जाता है, आस्रवों का निरोध होकर संवर, निर्जरा, मोक्ष प्रगट हो जाता है।

मन-वचन-काया के सम्बन्ध से आत्मप्रदेशों में चंचलता होने पर कार्माणवर्गणा के रजकण कर्मरूप होकर आते हैं तथा जीव के कषायभावों के अनुसार वे जीव के साथ बँध जाते हैं। सम्यक्त्वादि वीतरागभाव के होने पर वे कर्म स्वयमेव छंट जाते हैं। इसलिए हे भाई ! तू आस्रवों के कारणों का सेवन छोड़ और मोक्ष के कारणों का सेवन कर।

बन्ध का कारणभूत आस्रव पाँच प्रकार का है। मिथ्यात्व, अव्रत, प्रमाद, कषाय और योग। उनमें मिथ्यात्व सबसे मुख्य है। उसका नाश किए बिना अव्रतादि भी नहीं छूटते। राग का छोटे से छोटा कण भी आस्रव है और जीव को दुःख का कारण है; अतः उसे संवर का या सुख का कारण नहीं समझना चाहिए, संवर तो वीतरागभाव से ही होता है। सबसे पहले सम्यग्दर्शन होने पर मिथ्यात्व और उससे सम्बन्धित इकतालीस प्रकृतियों का संवर होता है। इसप्रकार दुःखदायक आस्रवों का स्वरूप और उन्हें रोकने के उपाय का चिन्तन करके आस्रवों के कारणों

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

का सेवन छोड़ना आस्रवभावना है। आस्रव भावना में आस्रवों को रोकने की और संवर भावना में संवर प्रगट करने की बात कही जाती है।

हे बुद्धिमान मुमुक्षु! यदि तुझे संसार का अन्त करना हो और मोक्षमार्ग में लगना हो तो आस्रवों का दुःखदायक स्वरूप जानकर उसे छोड़। अपने शुद्धस्वभाव का आश्रय ले तो आस्रव सहज छूट जायेंगे।

जिसे चारों गतियों के दुःखों का भय लगे वही आत्मसन्मुख होकर मोक्षमार्ग में लगता है। मुमुक्षु जीव को शुभराग के फल में मिलने वाली देवगति में भी सुख नहीं लगता। वह जीव समस्त परभावों से रहित अपने शुद्धात्मा का चिन्तन करके मोक्ष सुख का स्वाद लेता है।

प्रभु! तेरा आत्मा शान्तरस का समुद्र है, उसमें राग या दुःख की लहरें नहीं उठतीं तथा परपदार्थों से शान्ति नहीं आती। पर के आश्रय से शुभ या अशुभ राग होता है, जो दुःखरूप है, दुःख का कारण है; अतः संसार है। अज्ञानी जीव राग को धर्म का, मोक्ष का और सुख का साधन मानता है; क्योंकि उसे आस्रवों के स्वरूप की खबर नहीं है; इसलिए उसे सच्ची आस्रव भावना नहीं होती। भगवान आत्मा शुभाशुभ राग रूपी वस्त्र रहित है, उसके सहज निर्ग्रन्थ स्वरूप में शुभाशुभ का बोझा नहीं है। इसप्रकार आस्रव भावना द्वारा वैराग्य का जोर बढ़ाकर महाभागी मुनिराज आस्रवों से भिन्न आत्मा के अनुभव में एकाग्र होते हैं। उन्हें आस्रव निरोधरूप संवर होता है।

देखो! बुद्धिवंत जीव शुभ आस्रव को भी दुःख का कारण जानकर उसका निवारण करते हैं। छहढाला जैसे छोटे ग्रन्थ में भी इतनी स्पष्ट बात लिखी है। पूर्वाचार्यों की परम्परा का अनुसरण करके पण्डित दौलतरामजी ने यह ग्रन्थ लिखा है। **"आस्रव दुखकार घनेरे"** अर्थात् आस्रव बहुत दुखदायी हैं। इसमें पुण्यास्रव भी आ गया है। **"बुधिवन्त तिन्हें निरवेरे"** अर्थात् बुद्धिमान जीव इनका निवारण करते हैं। ज्ञानियों ने उन्हें छोड़ने

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

योग्य समझा, तभी तो उन्हें सम्यग्ज्ञान हुआ और अब वे आस्रवों का सर्वथा अभाव करने के लिए वैराग्य भावनाओं का चिन्तवन करते हैं। हे भाई! तू भी शुभाशुभ से पार शुद्ध आत्मा को दृष्टि में लेकर ऐसी भावना कर! तुझे महान आनन्द होगा। ये भावनाएँ वैराग्य उत्पन्न करने वाली माता हैं।

इसके बाद संवर भावना में कहेंगे — **"जिन पुण्य-पाप नहिं कीना आतम अनुभव चित दीना"** अर्थात् जिसका चित्त आत्मा के अनुभव में लगा है, उसी को संवर होता है, जिसका चित्त राग या पुण्य में लगा है, उसे संवर या सुख नहीं होता। जिसका चित्त चैतन्य में लगता है और राग से हट जाता है, उसे ही संवर और सुख होता है। आत्मा के अनुभव के पहले ही जो पुण्य-पाप दोनों को आस्रवरूप जाने, दुःखरूप जाने, छोड़ने योग्य जाने; वही उनसे पीछे हटकर उनका संवर कर सकता है। जो आस्रव को करने योग्य मानता है, हितरूप मानता है वह उन्हें क्यों छोड़ेगा? उसे उनका संवर कैसे होगा? भाई! किसी भी प्रकार का राग चाहे शुभ हो या अशुभ, उसमें तुझे दुःख भासित होना चाहिए, अहित भासित होना चाहिए, ऐसा लगना चाहिए कि इसके निवारण में ही मेरा हित है।

जो आस्रव-बन्ध को संवर-निर्जरा मानता है, उसे इन वैराग्य भावनाओं का सच्चा चिन्तन नहीं होता। आस्रव-बंध तो अनर्थरूप तत्त्व है, उसका फल भी अनर्थरूप अर्थात् दुःखरूप है। पुण्य को भी शास्त्रों में बेड़ी कहा है, चाहे वह सोने की ही क्यों न हो, वह भी जीव को बाँधनेवाली है, दुःख देनेवाली है, मुक्ति देनेवाली नहीं है। अज्ञानी उसके सेवन में सुख मानकर सन्तुष्ट होता है, उसका तो तत्त्व-चिन्तन ही मिथ्या है। यहाँ तो वस्तुस्वरूप के यथार्थ ज्ञान सहित वैराग्य-चिन्तन की बात है। चैतन्य के अनुभवरूप वीतरागभाव के बिना भवदुःख से छुटकारा नहीं हो सकता।

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

लाख बात की बात अर्थात् सभी कथनों का यही सार है कि पुण्य-पाप रूप समस्त कषायभावों से भिन्न चिदानन्दस्वरूप आत्मा को अन्तर में ध्याओ। इसके अतिरिक्त दूसरा कोई उपाय नहीं है। सराग अवस्था में अनेक प्रकार के शुभभाव भी होते हैं; परन्तु वे सब नवीन कर्म बन्ध के कारण हैं, मोक्ष के कारण नहीं हैं— ऐसा यथार्थ ज्ञान करना चाहिए। सच्चा ज्ञान होने पर मोक्षमार्ग चालू रहता है। ज्ञानी जीव वस्तुस्वरूप को जानकर स्वभाव की भावना के बल से आस्रवों को रोकते हैं। संवररूपी योद्धा बारह भावनाओं के चिन्तनरूपी ढाल से आस्रवों को रोकते हैं। आस्रव भावना में आस्रव करने की भावना नहीं है; परन्तु आस्रव का दुखःदायक स्वरूप जानकर शुद्धस्वरूप के अनुभव द्वारा उनका निवारण करना ही आस्रव भावना का तात्पर्य है।

इसप्रकार आस्रव भावना का वर्णन पूरा हुआ।

***

जीव तू अनादि ही तैं भूल्यो शिव-गैलवा ॥
मोहमद वार पियौ स्वपद विसार दियौ,
पर अपनाय लियौ, इन्द्रिय सुख में रचियौ,
भव तै न भियौ, न तजियौ मन मैलवा ॥ १ ॥

मिथ्या-ज्ञान-आचरन, धरिकर कुमरन,
तीन लोक की धरन, तामें कियो है फिरन,
पायो न शरन, न लहायौ सुख सैलवा ॥ २ ॥

अब नर भव पायो, सुथल सुकुल आयौ,
जिन उपदेश भायौ, 'दौल' झट छिटकायौ,
पर-परनति दुखदायिनी चुरैलवा ॥ ३ ॥

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

संवर भावना

अब संवर भावना का वर्णन करते हुए पण्डित दौलतरामजी कहते हैं :—

जिन पुण्य-पाप नहिं कीना, आतम अनुभव चित दीना।
तिनही विधि आवत रोके, संवर लहि शिव अवलोके॥ १०॥

जो पुण्य-पाप भाव नहीं करते और आत्मा के अनुभव में ही चित्त को लगाते हैं, वे कर्मों को आने से रोकते हैं तथा संवर प्राप्त करके साक्षात् सुख का अनुभव करते हैं।

इस भावना में संवर तत्त्व के स्वरूप का विचार किया जाता है। जिसप्रकार आस्रवों के स्वरूप का चिन्तवन करके जीव उनसे विरक्त होता है; उसीप्रकार संवर के स्वरूप का चिन्तवन करके, उसे सुखरूप जानकर जीव संवररूप परिणमता है; यही सच्ची संवर भावना है।

समयसार के संवर अधिकार में आचार्यदेव ने यह बात बहुत सुन्दर ढंग से समझाई है। उपयोग में उपयोग है, उपयोग में क्रोधादि नहीं है — इसप्रकार भेद-ज्ञान द्वारा जो जीव दोनों की भिन्नता जानकर उपयोग स्वरूप शुद्ध आत्मा का अनुभव करता है, वही जीव संवररूप परिणमित होता हुआ रागादि के अंश को भी अपने उपयोग में नहीं मिलाता। आचार्यदेव समयसार गाथा १८३ में लिखते हैं —

विपरीतता से रहित इस विधि जीव को जब ज्ञान हो।
उपयोग के अतिरिक्त कुछ भी ना करे तब आत्मा॥

देखो ! यह संवर भावना है। संवर में शुभ-अशुभ दोनों राग का अभाव है, इसलिए कहा है, "**जिन पुण्य-पाप नहिं कीना**" पुण्य-पाप नहीं किया तो क्या किया? "**आतम अनुभव चित दीना**" अर्थात् आत्मा के अनुभव में उपयोग लगाया। पुण्य-पाप से पार शुद्ध उपयोग द्वारा आत्मा का अनुभव होता है और इसी अनुभव से कर्मों का संवर होता है।

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

भेद-ज्ञान द्वारा संवररूप परिणमित धर्मात्मा अपने शुद्ध-उपयोग के अलावा पुण्य-पाप आदि किसी भी अशुद्धभाव को अपने स्वभावरूप अनुभव नहीं करते अर्थात् उसके कर्ता नहीं होते। शुभराग से संवर नहीं होता; अपितु उसके अभाव से संवर होता है। मोक्षमार्ग वीतरागभाव स्वरूप है; अतः वीतरागभाव से ही मोक्षमार्ग में ऊँचे चढ़ा जाता है, पुण्य-पाप रूप रागभाव से नहीं। अज्ञानी जीव आत्मा को भूलकर, राग में धर्म मानकर शुभराग से स्वर्ग में भी चला जाता है; परन्तु इससे वह ऊंचा नहीं चढ़ जाता। संसार में जरूर ऊँचे चढ़ गया; परन्तु धर्म में नहीं, मोक्षमार्ग में नहीं।

अरे भाई! सर्वज्ञ भगवान वीतराग हैं, उनका बताया हुआ मार्ग वीतराग है, उस मार्ग में राग से कल्याण कैसे होगा ? यदि तू राग को हित का साधन मानता है तो तूने वीतराग मार्ग को जाना ही नहीं, तू संसार के प्रेम में ही पड़ा है। यहाँ तो स्पष्ट कहा है कि जो पुण्य-पाप रहित आत्मा का अनुभव करते हैं, वे ही सुख प्राप्त करते हैं और उन्हें ही संवर होता है। जो जीव बुद्धिमान हैं, धर्मात्मा हैं, सम्यग्दृष्टि हैं, वे शुद्धोपयोग द्वारा अपने ज्ञान को आत्मानुभव में एकाग्र करते हैं तथा अशुभ और शुभ दोनों को छोड़ते हैं; उन्हें सुखदायक संवर होता है। यही मुक्ति का मार्ग है।

बहुत से लोग पूछते हैं कि हमें क्या करना चाहिए? तो श्री गुरु कहते हैं कि राग से चित्त हटाकर राग रहित शुद्धात्मा में चित्त को जोड़ो; यही धर्म है और सुखी होने का उपाय है? शुभराग होता अवश्य है; परन्तु उसमें चित्त जोड़ने जैसा नहीं है; क्योंकि उसमें सुख नहीं है। अन्तर में राग रहित अत्यन्त सुन्दर चैतन्यतत्त्व है, वह सुख से भरपूर है; इसलिए उसमें चित्त जोड़ना चाहिए — इसप्रकार एक बार आत्मा को लक्ष्य में ले ही ले.... उसमें अन्तर्मुख होकर उसकी श्रद्धा तो कर; उसकी श्रद्धा करते ही मिथ्यात्वादि अनन्तकर्मों का आस्रव रुक जाएगा और उस स्वभाव में

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

एकाग्र होकर शुभाशुभ भावों का निरोध करने पर सर्व कर्मों का निरोध होकर पूर्ण संवर हो जाएगा। संवर प्रगट करने की यही रीति है।

जो पुण्य अर्थात् राग को ही संवर का कारण मानता है, वह राग से भिन्न आत्मा का ध्यान कैसे करेगा ? पुण्य हो या पाप, शुभराग हो या अशुभराग, दोनों ही कषाय हैं, उनसे भिन्न आत्मा का अनुभव ही मोक्षसुख का कारण है।

पण्डित बनारसीदासजी ने लिखा हैं —

अनुभव चिन्तामणिरतन, अनुभव है रसकूप।
अनुभव मारग मोक्ष का, अनुभव मोक्ष स्वरूप॥

अरे ! जिस भाव से आत्मा का सुख न मिले, भव-भ्रमण का दुःख न टले; वह भाव किस काम का? जिसे राग रहित आत्मा की बात नहीं रुचती और राग की बात रुचती है, उसे जन्म-मरण का अन्त कैसे आएगा? राग का फल तो संसार है। आत्मा को समझे बिना देव भी हो जाए तो उससे आत्मा को क्या लाभ है ? जिसने चार गति के कारण रूप मिथ्यात्व भावों को छोड़ा और राग रहित चैतन्य स्वभाव की भावना से मोक्ष के कारणभूत सम्यक्त्व भाव प्रगट किया, उसे ही शुद्धस्वभावरूप संवर प्रगट होता है, कर्म रुकते हैं और वही परम सुख का अनुभव करता है।

ज्ञान, आनन्द आदि वैभव से भरपूर आत्मा स्वयं महान परमेश्वर पदवाला है। जो अपनी महानता को भूलकर परपदार्थों और राग को महान मानता है, उसे परपद की रुचि है; इसलिए राग का भिखारी बनकर संसार में भटकता है। भगवान होकर भी भव-भव में भटकता है। भगवान ! तुझे यह शोभा नहीं देता। जगत को आत्मा के अनुभव से होनेवाले महान सुख की अचिन्त्य महिमा की खबर नहीं है। शुभराग तो आस्रव का कारण है, संवर का कारण तो वीतरागता है। दोनों की बात जुदी है, मार्ग जुदा है, स्वरूप जुदा है। इस जुदाई को जानकर स्वरूप का

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

चिन्तन करने से परिणामों में विशुद्धता बढ़ती है, वैराग्य बढ़ता है तथा स्वरूप में एकाग्रता होकर संवर प्रगट होता है। इसमें वीतरागता का महान पुरुषार्थ है। जिसे राग रहित चैतन्यपद की रुचि भी नहीं होती, उसे उसमें एकाग्रता का वीतरागी पुरुषार्थ कैसे जाग्रत होगा? जिसे राग की रुचि है, वह उसमें से अपना चित्त हटाकर आत्मा के अनुभव में क्यों जोड़ेगा?

यहाँ तो कहते हैं कि यदि तुझे संवर करना हो तो अपने चित्त को आत्मा के अनुभव में जोड़ और पुण्य-पाप को छोड़। सम्यग्दृष्टि गृहस्थ भी आत्मा के अनुभव में चित्त को जोड़ते हैं। वे भी कभी-कभी पुण्य-पाप से उपयोग हटाकर निर्विकल्प शुद्धोपयोग द्वारा आत्मा के अनुभव में चित्त को एकाग्र करते हुए अतीन्द्रिय सुख का अवलोकन करते हैं अर्थात् साक्षात् अनुभव करते हैं। यह बात मात्र मुनियों के लिए नहीं है; उन्हें शुद्धात्मा का प्रचुर संवेदन है, इसलिए उनकी बात मुख्य है। गृहस्थ धर्मात्माओं को ऐसा अनुभव कभी-कभी और अल्प होता है; अतः उनकी बात गौण है।

संसार में यदि कोई हमें दूसरों से होशियार एवं श्रेष्ठ कहे तो सुनकर खुशी होती है; परन्तु सन्त कहते हैं कि हे भाई! तू चैतन्यस्वरूप आत्मा जगत में सर्वश्रेष्ठ है, पुण्यभाव और देवलोक के भव से भी तू अधिक ऊंचा और महान है। अपनी महानता की यह बात सुनकर तुझे उल्लास क्यों नहीं आता? पुण्य से भी भिन्न अपने सुन्दर चैतन्य स्वभाव की बात सुनकर तू प्रसन्न हो। राग से भिन्न चैतन्यस्वभाव की ओर अपने वीर्य को उल्लसित कर। भाई! एक बार तो और सब कुछ भूलकर अपने स्वभाव की बात सुनकर खुश हो, उसमें उत्साह तो ला! तेरे आत्मा में वीतरागता का बीजारोपण होगा, जिसमें से सम्यग्दर्शन, केवलज्ञान और मोक्षरूपी महान फल पकेंगे, तुझे परमसुख का अनुभव होगा। ऐसे

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

जैनधर्म को पाकर तू अब राग से भिन्न उपयोग द्वारा आत्मसुख का साक्षात्कार कर। यह कार्य इस जीवन में अभी नहीं करेगा तो कब करेगा? ऐसा संयोग सदा नहीं रहेगा। यदि तू अपने चैतन्य प्रभु की उपेक्षा करके उसके विरोधी राग का आदर करेगा तो चैतन्य प्रभु तुझ पर कैसे प्रसन्न होगा? भाई! राग के सामने देखने पर चैतन्य का वेदन नहीं होगा, चैतन्य के चिन्तन में उपयोग जोड़ने से चैतन्य का वेदन होगा।

ज्ञानी अपने आत्मा को आनन्दरूप देखते हैं और रागादि को दुःखरूप देखते हैं; अर्थात् वे अपने उपयोग को राग से भिन्न करके चैतन्यस्वभाव में जोड़ते हैं, इससे उन्हें अतीन्द्रिय सुख के साक्षात्कारपूर्वक कर्मों का संवर होता है। शुभाशुभ भाव तो कषायचक्र हैं, उनकी भावना में मात्र दुःख ही है और उनसे भिन्न आनन्दमय चैतन्यस्वभाव की भावना में मात्र सुख ही है। इसप्रकार वस्तुस्वरूप का बारम्बार चिन्तन करना संवर भावना है, उसके फल में संवर अर्थात् सुख प्रगट होता है।

जैसे ढाल के द्वारा शस्त्रों का प्रहार रोका जाता है, वैसे शुद्धोपयोगरूपी ढाल के द्वारा कर्मों को रोका जाता है। सर्वप्रथम शुद्धात्मा की अनुभूति द्वारा सम्यग्दर्शन होने पर मिथ्यात्वादि कर्मों का आस्रव रुक जाता है। वीतराग-विज्ञान रूपी ढाल आठ कर्मों के प्रहार से आत्मा की रक्षा करती है।

शुद्धोपयोगरूप परिणमित आत्मा में रागादि या कर्म का कर्तापना नहीं है। चैतन्य स्वरूप आत्मा कर्ता और राग-द्वेष या जड़ शरीर की क्रिया उसका कार्य — ऐसा कर्ताकर्मपना नहीं है। भगवान आत्मा चैतन्यस्वरूप है; अतः उसका कार्य भी चैतन्यभावरूप है। ऐसे आत्मा में जो अपना चित्त जोड़ता है, उसे ही संवर होता है तथा जो जीव राग के कर्तृत्व में रुका है, उसे आस्रव होता है। आत्मा में एकाग्रता रूप शुद्धोपयोग में राग नहीं है; इसलिए उसमें कर्म का आस्रव भी नहीं है। ज्ञानी का उपयोग

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

'जिन पुण्य-पाप नहिं कीना, आतम अनुभव चित दीना' इस पंक्ति के अनुसार आत्मानुभव में लीन रहता है; वे स्वरूप में गुप्त होकर अतीन्द्रिय सुख का अनुभव करते हैं ।

अहो ! जो ज्ञान, भेद-विज्ञान करके आत्मा का अनुभव करे, वही सच्चा ज्ञान है, इसके बिना बाहर का सब जानपना अज्ञान है, वह जीव को भवबन्धन से छूटने में कार्यकारी नहीं है। संसार में मिथ्यात्व जैसा कोई अहितकर और वीतराग-विज्ञान जैसा हितकर कोई और नहीं है। पुण्य या शुभराग को हितकर नहीं कहा, वीतराग-विज्ञान को ही हितकारी कहा है। जो पुण्य-पाप रहित आत्मा का अनुभव करते हैं, वे जीव धन्य हैं। उन्हें ही संवर या सुख का साक्षात्कार होता है।

प्रश्न :— सम्यग्दृष्टि को भी पुण्य-पाप भाव तो होते हैं ?

उत्तर :— साधक जीव को सम्यग्दर्शन के साथ-साथ पुण्य-पाप होने पर भी सम्यक्त्वादि रूप शुद्ध उपयोग में पुण्य-पाप का कर्तृत्व नहीं है; इसलिए वह उनका कर्त्ता नहीं है। 'जिन पुण्य-पाप नहिं कीना' - यह बात शुद्ध चेतनारूप परिणमित धर्मात्मा ही करते हैं। मुनियों को तो चैतन्य में विशेष लीनता, प्रचुर वीतरागभाव उत्पन्न हुआ है अर्थात् पुण्य-पाप, राग-द्वेषादि भाव भी बहुत छूट गए हैं। उन्हें जितने अंशों में राग-द्वेष हैं, उतने अंशों में आस्रव है और जितने अंशों में शुद्धोपयोग है, उतने अंशों में संवर है।

वीतरागी रत्नों का खजाना चैतन्य भण्डार भगवान-आत्मा अन्दर विद्यमान है, धर्मी ने उसके भोग में अपना उपयोग जोड़ा है। महान आनन्द स्वरूप मोक्ष की प्राप्ति का एकमात्र यही उपाय है। धर्मी को अपने अनुभव में मोक्ष के आनन्द के नमूने का स्वाद आ जाता है। अन्तर्मुख परिणति द्वारा आनन्द का अनुभव करना ही मोक्षमार्ग और मोक्ष है। धर्मी को अपने में अपने आनन्द का अनुभव होता है। उन्हें अपने आनन्द की खबर

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

ही न पड़े — ऐसा नहीं होता। शुद्धोपयोगपूर्वक सम्यग्दर्शन होने पर चौथा गुणस्थान प्रगट होता है और तभी से आत्मा के अतीन्द्रिय आनन्द का वेदन प्रारम्भ हो जाता है भले ही वह आनन्द अल्प हो; किन्तु वह सिद्ध भगवान के पूर्ण आनन्द की जाति का है, उसकी जाति पुण्य-पाप से अत्यन्त भिन्न है, उसमें पुण्य-पाप या कषाय का स्वाद नहीं है तथा वह राग या पुण्य से उत्पन्न नहीं हुआ है; वह तो राग रहित चैतन्यस्वभाव में से आया है। धर्मी को उस आनन्द की अस्ति में अनन्त गुणों का स्वाद आता है, उसमें राग की, कर्म की या इन्द्रिय-विषयों की नास्ति है। ऐसी शुद्धदशा का नाम संवर है और उसी की भावना करना चाहिए।

जितनी शुद्धता, उतना संवर है और जितनी अशुद्धता उतना आस्रव है। शुद्धता अर्थात् वीतरागता और अशुद्धता अर्थात् मोह-राग-द्वेष। इन दोनों की जाति भिन्न-भिन्न है। राग कभी संवर का कारण नहीं होता और वीतरागभाव से कभी आस्रव नहीं होता। इसप्रकार जो राग और वीतरागता की भिन्नता को जानता है, वह राग से विरक्त होकर वीतरागी चैतन्य में उपयोग जोड़ता है।

जो शुभराग को दुःख का कारण न मानकर संवर अर्थात् सुख का कारण मानता है; वह उसे कैसे छोड़ेगा? भाई! राग भले शुभ हो; परन्तु है तो वह कषाय का ही भेद; कषाय में सुख कैसे हो सकता है ? जिसमें अचिन्त्य अनन्त अतीन्द्रिय आनन्द भरा है, ऐसे आत्मा की दृष्टि और उसमें एकाग्रता करने से राग से भिन्न ज्ञानमय परिणति उत्पन्न हो जाती है, उसमें पाप-पुण्य का कर्तृत्व नहीं रहता। यही साधकदशा है। मिथ्यात्व दशा में मात्र दुःख का वेदन था, साधकदशा होने पर अतीन्द्रिय सुख का साक्षात्कार हुआ। इसप्रकार दुःख का नाश और सुख का वेदन ही संवर है। आनन्द के महासागर में से आनन्द की एक तरंग उछलते ही धर्मी को भान हो जाता है कि अहो..... मैं ऐसे आनन्दरस का महासागर हूँ। जैसा

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

स्वाद पुण्य-पाप में कभी नहीं चखा था, वैसा स्वाद स्वानुभव द्वारा धर्मी को वेदन में आता है।

जिस भाव से कर्म आते हैं, उससे विरुद्ध भावों से ही उनका छेदन हो सकता है। शुभराग से कर्मों का आस्रव होता है; अतः उससे ही कर्मों का संवर नहीं हो सकता। मिथ्यात्व से आनेवाले कर्म सम्यग्दर्शन द्वारा रोके जा सकते हैं और राग से आने वाले कर्म वीतरागभाव द्वारा रोके जा सकते हैं।

पुण्यभाव में भी दुःख है; परन्तु अज्ञानी को उसमें दुःख नहीं लगता; क्योंकि उसे चैतन्यसुख की खबर नहीं है। भाई ! चैतन्य के अनुभव बिना सुख कैसा ? राग में तू दुःखी ही है, राग रहित चैतन्य के अनुभव में ही सुख है। ऐसे सुख का साक्षात्कार होना ही धर्मीजीव की अंतरंग निशानी है। चैतन्य की अनुभूति और शुभराग; दोनों एक-दूसरे के विरुद्ध हैं। चैतन्य की अनुभूति में सुख का वेदन है और राग में दुःख का वेदन है। चैतन्य का वेदन मोक्ष का कारण है और राग का वेदन संसार का कारण है। जिसे चैतन्य और राग की भिन्नता की खबर नहीं है, वह राग को ही सुख का कारण मानता है। अहा ! चैतन्यस्वरूप में चित्त लगाते ही जीव पुण्य-पाप से भिन्न हो जाता है और उसे कर्मों का आगमन रुक जाता है। शुद्ध दशा होने पर जब अशुद्धता नहीं रहती, तब पुद्गलों में भी कर्मरूप परिणमन नहीं होता। जीव की पर्याय में अशुद्धता होने पर कर्म आते हैं और शुद्धता होने पर कर्म नहीं होते — ऐसा सहज सुमेल होने के कारण निमित्त की अपेक्षा ऐसा कहा जाता है कि जीव ने कर्मों का संवर किया।

शुद्धभावरूप संवर में आत्मा के सुख का अवलोकन होता है। सम्यग्दर्शन होने पर 'मैं स्वयं अतीन्द्रिय आनन्द हूँ' — ऐसा स्वसंवेदन प्रगट होता है। पुण्यभाव में ऐसे सुख का संवेदन नहीं होता। अज्ञानी

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

जीव ने कभी सुख का स्वाद नहीं चखा; इसलिए वह बाह्य पदार्थों में सुख की मिथ्या कल्पना करता है। मैं स्वयं आनन्द स्वरूप वस्तु हूँ — ऐसा अवलोकन किये बिना मोक्षमार्ग प्रगट नहीं होता, संवर नहीं होता, धर्म नहीं होता, सुख नहीं होता। मैं अनन्त चैतन्यशक्ति का पिण्ड आनन्दमय आत्मा हूँ — ऐसा अनुभव होने पर चित्त उसमें लग जाता है, अब राग में चित्त नहीं लगता। राग से भिन्न अतीन्द्रिय ज्ञान में आनन्द का साक्षात्कार होता है। उस आनन्द के अंश के वेदन में आनन्दस्वरूप अखण्ड आत्मा प्रतीति में, ज्ञान में और अनुभूति में आ जाता है।

परपदार्थों में चित्त को जोड़ने से पुण्य-पाप की उत्पत्ति होती है और आत्मस्वभाव में चित्त को जोड़ने से पुण्य-पाप से निवृत्ति होकर सुख का वेदन होता है; अतः दोनों की दिशा विपरीत है। आत्मा में एकाग्र होने से चैतन्यरसमय आनन्द धारा निकलती है तथा बाह्य पदार्थों के आश्रय से पुण्य-पाप भाव उत्पन्न होते हैं, जिनका स्वाद आकुलतारूप है। उपयोग जब आत्मा के आनन्द का स्वाद लेने में जुड़ता है, तब पुण्य-पाप से हट जाता है और वीतरागी शान्ति का वेदन करने लगता है। शान्ति का स्वाद चखने के पश्चात् अब राग में चित्त नहीं जुड़ता और कर्म भी नहीं आते। इसप्रकार भेद ज्ञान सहित संवर भावना द्वारा संवरदशा प्रगट होती है। वीतरागी सर्वज्ञ तीर्थंकर भगवन्तों द्वारा कहा गया यही मार्ग है।

इसप्रकार संवर भावना का वर्णन पूरा हुआ।

***

प्रभु मोरी ऐसी बुधि कीजे।
रागदोषदावानल से बच, समतारस में भीजे॥
परमें त्याग अपनपो निजमें, लाग न कबहूँ छीजे।
कर्म कर्मफलमाहिं न राचत, ज्ञान सुधा-रस पीजे॥ १॥
सम्यग्दर्शन-ज्ञान, चरननिधि, ताकी प्राप्ति करीजे।
मुझे कारजके तुम बड़ कारन, अरज 'दौल' की लीजे॥ २॥

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

निर्जरा भावना

अब निर्जरा भावना का वर्णन करते हुए पण्डित दौलतरामजी कहते हैं :—

निज काल पाय विधि झरना, तासों निज काज न सरना।
तप करि जो कर्म खिपावै, सोई शिवसुख दरसावै॥ ११॥

अपनी-अपनी स्थिति पूर्ण होने पर कर्मों के खिरने से जीव का आत्महित का कार्य नहीं होता। तप करने से जो कर्मों की निर्जरा होती है, वही मोक्षसुख देनेवाली है।

कर्मों की निर्जरा दो प्रकार की है। कर्म की स्थिति पूरी होने पर उनका आत्मप्रदेशों से अलग हो जाना सविपाक निर्जरा कहलाती है; परन्तु उससे जीव का हित नहीं होता। चैतन्य की विशुद्धतारूप तप द्वारा कर्मों का खिरना अविपाक निर्जरा है। यह निर्जरा ही जीव को मोक्ष प्राप्त कराती है।

प्रत्येक कर्म की अपनी-अपनी काल मर्यादा होती है। वह मर्यादा पूरी होने पर कर्म अपना फल देकर खिर जाते हैं। ऐसी निर्जरा ज्ञानी या अज्ञानी प्रत्येक जीव को प्रतिसमय होती रहती है, उसमें शुद्धता की अपेक्षा नहीं है। आत्मा के विशुद्ध परिणामों द्वारा संवरपूर्वक होने वाली निर्जरा अविपाक या सकाम निर्जरा कहलाती है। यह निर्जरा सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र सहित तप द्वारा होती है। यह निर्जरा जीव के लिए हितकारी है।

चैतन्य भावों का प्रतपन अर्थात् विशेष उज्जवल होना तप है। उसके द्वारा कर्मों को बिना फल दिए खिरानेवाली निर्जरा मोक्ष के लिए काम की है; इसलिए उसे सकाम निर्जरा कहते हैं। जब अपनी स्थिति पूरी होने पर फल देकर कर्म खिरते हैं, तब नये कर्म भी बंधते जाते हैं। इस निर्जरा से मोक्षरूपी काम सिद्ध नहीं होता; इसलिए इसे अकाम निर्जरा कहते हैं। इसप्रकार निर्जरा के स्वरूप का विचार करके वैराग्यपूर्वक उसमें उपयोग लगाना निर्जरा भावना है।

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

देखो ! भव और भोगों से विरक्त महाव्रती बड़भागी मुनिराज भी ये बारह भावनायें भाकर वैराग्य में वृद्धि करके कर्मों का आगमन रोकते हैं। ये बारह भावनायें आनन्दजननी हैं और संवर का कारण हैं। यहाँ नवमीं निर्जरा भावना का वर्णन चल रहा है।

अहो ! जिसने मनुष्यभव पाकर आत्मज्ञान सहित मुनिदशा प्रगट करके केवलज्ञान रूपी महान कार्य किया है, उसका अवतार सफल हो गया। छठवीं ढाल में ऐसे जीव के लिए कहेंगे :—

'धनि धन्य हैं जे जीव नरभव पाय यह कारज किया'

भाई ! मनुष्यभव में तो आत्महित का कार्य अवश्य कर लेना चाहिए। इसके बिना सब व्यर्थ है, संसार का कारण है, उसमें कुछ सार नहीं है। सारभूत तो अपना आत्मा है।

शुभ हो या अशुभ, सभी राग कर्मधारा है और कर्मबन्ध का कारण है; रागरहित शुद्धता धर्मधारा है और मोक्ष का कारण है। कर्मधारा और धर्मधारा दोनों भिन्न-भिन्न हैं। साधक जीव को एकसमय में दोनों धारायें वर्तती हैं; परन्तु वह उन दोनों का स्वरूप भिन्न-भिन्न जानता है कि शुद्धतारूप ज्ञानधारा अपना स्वरूप है तथा रागादि कर्मधारा मेरा स्वरूप नहीं है। इसप्रकार धर्मी को इन दोनों धाराओं में भेद-ज्ञान वर्तता है, वह राग के एक अंश को भी अपनी ज्ञानधारा में नहीं मिलाता।

सर्वज्ञ भगवान को अकेली ज्ञानधारा है और अज्ञानी को अकेली कर्मधारा है। अन्तरात्मा अर्थात् साधक जीव को दोनों धारायें हैं। वह ज्ञानधारा को मोक्ष का कारण और कर्मधारा को बन्ध का कारण जानता है। **अज्ञानी को ज्ञानधारा की खबर ही नहीं है। यद्यपि उसकी पर्याय में भी ज्ञान अर्थात् चेतनता विद्यमान है; परन्तु वह राग से भिन्न ज्ञान को नहीं पहचानता, ज्ञान का स्वाद नहीं लेता;** इसलिए उसके ज्ञान को ज्ञानधारा नहीं कहते। वह तो राग-द्वेषरूप कषाय और ज्ञान को एकमेक

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

मानकर दोनों का अनुभव करता है; इसलिए उसे मिथ्याज्ञान है। उसे संवर-निर्जरा नहीं होती। सम्यग्दृष्टि जीव रागादि से भिन्न शुद्ध ज्ञानधारा को जानते हुए उसका आनन्दमय स्वाद लेता है तथा स्वसन्मुख एकाग्रता द्वारा उसमें वृद्धि करता है; इसलिए उसे संवर-निर्जरा होती है, जो मोक्ष का कारण है।

भाई! यह तेरे हित की बात है। कितने भावों से तेरा हित होता है — यह बात यहाँ बता रहे हैं। रागादि से भिन्न शुद्ध चैतन्य को जानकर उसमें विशेष लीनता से जो शुद्धता की वृद्धि और अशुद्धता की हानि होती है, वह भावनिर्जरा है और पुद्गल कर्मों का, कर्मरूप अवस्था को छोड़कर अकर्मरूप अवस्था में परिणमित हो जाना द्रव्य निर्जरा है। इसप्रकार धर्मी जीव निर्जरा के स्वरूप का बारम्बार विचार करते हैं। यही निर्जरा भावना है। निर्जरा, राग से नहीं होती; अपितु चैतन्य की शुद्धता में वृद्धि से निर्जरा होती है। जिसे चैतन्य की शुद्धता की खबर नहीं है, उसे सम्यक् तप या निर्जरा नहीं हो सकती। निर्जरा तो उसका नाम है जो मोक्षसुख को दिखाये :—

संवर भावना में कहा था **'संवर लहि सुख अवलोके'**

निर्जरा भावना में कहते हैं **'सोई शिव सुख दरसावे'**

धर्मभावना में कहेंगे **'तब ही सुख अचल निहारे'**

इसप्रकार मोक्षसुख का अनुभव यही करा दें — ऐसी यह बारह भावनायें हैं; इसलिए कार्तिकेयस्वामी ने इन्हें भविकजन आनन्दजननी कहा है। दीक्षा लेते समय तीर्थंकर भी इन भावनाओं का चिन्तवन करते हैं। प्रत्येक भावना में गहन भाव भरे हैं।

निर्जरा तप द्वारा होती है। तप तो चारित्र में भी विशेष शुद्धिरूप है। मुनिदशा में चारित्र में विशेष प्रतपनरूप तप करने से, आनन्दमय ध्यानाग्नि प्रगट करने से उसके ताप में कर्म भस्म हो जाते हैं। अज्ञानियों

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

को मुनिराजों के अन्तर की विशेष शुद्धि नहीं दिखती, उन्हें तो मात्र आहार छोड़ने रूप बाह्य क्रिया दिखती है; इसलिए वे उसे ही तप मान लेते हैं। परन्तु भाई ! तप शरीर में नहीं; बल्कि आत्मा की दशा में होता है। चैतन्य के प्रतपन से शुद्धता की वृद्धि होना ही तप है। चैतन्य के भान बिना आहारादि छोड़कर चाहे जितना बाह्य तप करे, परन्तु उससे मोक्ष के कारणभूत निर्जरा नहीं होती अर्थात् आत्मा का हित नहीं होता, भवभ्रमण नहीं मिटता।

धर्मात्मा जीव को चैतन्य के ध्यान द्वारा शुद्धता उत्पन्न होने पर एक क्षण में जिन अनन्त कर्मों का नाश होता है, अज्ञानी द्वारा लाखों वर्ष तक किए गए तप से भी उतने कर्म नहीं खिरते। जगत को ऐसी चैतन्य स्वभाव की कीमत की खबर नहीं है। सकाम अर्थात् मोक्ष के लिए कार्यकारी अविपाक निर्जरा धर्मात्मा जीव को ही होती है। आत्मा के भान बिना होने वाली कर्मों की निर्जरा मोक्ष के लिए काम की नहीं अर्थात् अकाम है। सच्ची निर्जरा तो मोक्षसुख देनेवाली है। मोक्षसुख का जिसमें आंशिक स्वाद आता है — ऐसी संवर-निर्जरा भी शुद्धभावरूप है, उसमें अशुद्धता नहीं है।

तप में दुःख नहीं है। तप में तो विशेष सुख है। सुख के वेदन में लीन होने पर धर्मी को आहार आदि की आकुलता छूट जाती है। वह स्वरूप के अनुभव में तन्मय होकर प्रतिक्षण निर्विकल्प आनन्द का वेदन करता है, अपने में मोक्षसुख को देख लेता है। वहाँ आहार की इच्छा भी नहीं होती और आहार लेने की क्रिया भी नहीं होती — यही सच्चा तप है और मोक्ष का कारण है।

तप द्वारा होनेवाली निर्जरा के सच्चे स्वरूप का चिन्तन सम्यग्दृष्टि ही करते हैं। सम्यग्दृष्टि को ही बारह भावनाओं का सच्चा चिन्तवन होता है। जिसने देह और राग से भिन्न आत्मा को लक्ष्य में लिया है, उसी को

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

आत्मा में एकाग्रता के विशेष पुरुषार्थ से तप होता है। ऐसे तप द्वारा कर्म की स्थिति तोड़कर अर्थात् फल दिए बिना अविपाक रूप से उन्हें आत्मा में से खिरा देना मोक्ष का कारण है। जीव, कर्मों को खिरा देता है — यह कथन व्यवहार से किया जाता है। यद्यपि कर्म की अकर्म रूप पर्याय पुद्गल की योग्यतानुसार होती है; तथापि जीव के परिणाम की विशेष शुद्धि के साथ पुद्गल की अवस्था का सहज मेल है — यह बताने के लिए ऐसा कहा जाता है। जैसे अग्नि के ताप से सोना चमक उठता है, वैसे सम्यग्दर्शनपूर्वक ध्यान द्वारा आत्मा शुद्धता से चमक उठता है — यही परम तप है। जहाँ चैतन्य का भान नहीं है, चैतन्य का प्रताप नहीं है, वहाँ तप कैसा और निर्जरा कैसी? निर्जरा तो मोक्षसुख का नमूना है।

यद्यपि शुभराग के काल में अज्ञानी को भी अनेक अशुभ कर्मों की सामान्य निर्जरा होती है; तथापि उसमें चैतन्य की राग रहित शुद्धि नहीं है, उसमें मोक्षसुख का स्वाद नहीं है; अतः वह मोक्ष का कारण नहीं है, वह निर्जरा सकाम नहीं अपितु अकाम है अर्थात् निष्फल है; क्योंकि वह मोक्ष को साधने का कार्य नहीं कर सकती। धर्मात्मा को जो निर्जरा होती है, उसमें अपूर्व आनन्द होता है। जिसमें मोक्ष दिखता है, ऐसे महा-आनन्दरूप निर्जरा तत्त्व की खबर लोगों को नहीं है। नवतत्त्व की सच्ची पहिचान हो तो भेद-ज्ञान और सम्यग्दर्शन सहित परम आनन्द का अनुभव अवश्य होता है।

नवतत्वों का सच्चा स्वरूप नहीं समझ पाने वाले लोग एक तत्त्व में दूसरे तत्त्व को मिला देते हैं। निर्जरा का कारणभूत तप तो चैतन्य में होता है; परन्तु अज्ञानी जड़-शरीर में तप होना मानते हैं। किसी व्यक्ति के दाहिने पैर में फोड़ा हो गया, जब वैद्य उसमें पट्टी बाँधता तो वह दर्द के कारण चिल्लाता था। धीरे-धीरे उसकी चिल्लाने की आदत पड़ गई। एक बार वैद्य ने दाहिने पैर के बदले बायें पैर को छुआ तो भी वह चिल्लाने लगा, तब वैद्य ने कहा कि भाई, यह तो दूसरा पैर है, फोड़ा तो दूसरे पैर

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

में हुआ है। इसीप्रकार अज्ञानी जीव, अजीव की अवस्था को जीव की मान लेता है, परन्तु भाई! जड़ की पर्याय तुझमें नहीं होती तो व्यर्थ का मोह क्यों करता है? देह में आत्मबुद्धिवाला जीव मानता है कि मैंने आहार का त्याग करके शरीर को सुखा दिया, इससे मुझे तप हो गया। परन्तु भाई! तप शरीर में होता है या आत्मा में? खुराक नहीं खाना और शरीर का सूखना तो पुद्गल की अवस्था है; उस समय जीव में अर्थात् तुझमें क्या हुआ — उसकी तुझे खबर है? जिसने देह में आत्म बुद्धि छोड़कर देह से भिन्न चैतन्य का अनुभव किया वह जब देह से उदासीन होकर चैतन्य में स्थिरता करता है, तब उसे शुद्धता की वृद्धिरूप तप और निर्जरा होती है। भगवान ने भी अपने आत्मा में ऐसा तप किया था।

शरीर की अवस्था अजीव है, रागादि भाव आस्रव हैं और निर्जरा अजीव और आस्रव से भिन्न वीतरागभावरूप है। आनन्दमूर्ति भगवान आत्मा में एकाग्र होने से निर्जरा होती है। निर्जरा का ऐसा स्वरूप बारम्बार विचार कर निर्जरा रूप परिणमन करने से मोक्षसुख का अनुभव होता है। इसीलिए कहा है — **सोई शिवसुख दरसावे**। इसके अलावा आत्मज्ञान रहित उपवासादि तप करने से यदि उसमें मान आदि कषाय की तीव्रता न हो तो मात्र शुभभाव होता है और पुण्य बंध होता है; परन्तु उससे धर्म या मोक्षसुख नहीं होता। इसलिए मोक्षार्थी जीव को मोक्ष के कारणरूप निर्जरा का स्वरूप जानकर आत्मसन्मुखता द्वारा उसकी भावना करना चाहिए अर्थात् उस रूप परिणमना चाहिए।

इसप्रकार निर्जरा भावना का वर्णन पूरा हुआ।

***

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

लोक भावना

अब लोक भावना का वर्णन करते हुए पण्डित दौलतरामजी कहते हैं :—

किनहूँ न करो, न धरे को, षट्द्रव्यमयी न हरे को।
सो लोकमांहि बिन समता, दुःख सहे जीव नित भ्रमता॥ १२॥

जीवादि पाँच द्रव्य तथा ३४३ घन राजू प्रमाण आकाश — इसप्रकार छह द्रव्यों का समूह लोक है; इसके अलावा शेष अनन्त-अनन्त भाग में मात्र आकाश है, जो अलोक है। जीवादि छह द्रव्य अनादि-अनन्त स्वयं सत् हैं, उन्हें किसी ने बनाया नहीं है; इसलिए इस छह द्रव्य स्वरूप लोक को किसी ने किया नहीं है। किसी ने इसे अपने माथे पर धारण भी नहीं किया है और कोई उसका नाश भी नहीं कर सकता। इसप्रकार कोई ईश्वर इस लोक का कर्ता-धर्ता-हर्ता नहीं है।

इस विश्व को ब्रह्मा ने उत्पन्न किया है, विष्णु ने धारण किया है और महेश्वर उसका संहार करेंगे — यह कल्पना सत्य नहीं है। परमार्थ से आत्मा का और अन्य सभी पदार्थों का उत्पाद स्वभाव, स्वयं प्रतिक्षण नई-नई पर्यायें उत्पन्न करता है; इसलिए वह स्वयं ब्रह्मा है। प्रत्येक पदार्थ ध्रुव स्वभाव के कारण स्वयं अपने स्वरूप को सदा कायम रखता है, इसलिए वह स्वयं विष्णु है और प्रत्येक पदार्थ व्यय स्वभाव से प्रत्येक पर्याय का दूसरे क्षण में विनाश करता है; इसलिए पदार्थ स्वयं ही अपना महेश्वर है। वस्तु के उत्पाद-व्यय और ध्रुव स्वभाव के अलावा कोई उसका कर्ता-धर्ता या हर्ता नहीं है। यह जीव ३४३ घन राजू प्रमाण इस लोक में सर्वत्र समताभावरूप वीतरागता के अभाव से भ्रमण करते हुए दुःख सहन कर रहा है।

३४३ घन राजू प्रमाण लोक का संक्षिप्त विवरण इसप्रकार है :—

यह लोक १४ राजू ऊंचा है। इसमें ७-७ राजू के दो भाग हैं।

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

सात राजू वाला ऊपरी भाग बीच में पाँच राजू लम्बा है और ऊपर-नीचे एक-एक राजू है। अर्थात् उत्तर-दक्षिण सर्वत्र कुल लम्बाई ३ राजू है। लम्बाई x ऊंचाई ३ x ७ = २१ राजू हुए।

नीचे वाला भाग तल में ७ राजू लम्बा है तथा क्रमशः घटते हुए ऊपर १ राजू लम्बा है। उत्तर-दक्षिण में कुल लम्बाई ४ राजू है। अतः नीचे वाले भाग का क्षेत्रफल ४ x ७ = २८ राजू हुआ।

चौदह राजू ऊंचा सम्पूर्ण लोक पूर्व पश्चिम में ७ राजू मोटा है अर्थात् २१ + २८ = ४९ x ७ = ३४३ राजू हुआ। इसकी सम्पूर्ण दिशाओं और विदिशाओं में अनन्त अलोक है। एक राजू में असंख्यात योजन होते हैं।

छह द्रव्य स्वरूप इस लोक में जीव द्रव्यों की संख्या अनन्तानन्त (अक्षय अनन्त) है। इस अनन्तानन्त जीव राशि में एक भी जीव कभी बढ़ता नहीं और कभी घटता नहीं। जीव संसार में से मोक्ष चला जाता है; परन्तु विश्व के जीवों की संख्या उतनी ही रहती है, वह घटती या बढ़ती नहीं है। इसीप्रकार पुद्गल परमाणु भी अनन्तानन्त हैं। वे भी तीनों काल जितने हैं, उतने ही रहते हैं। कोई भी जीव कभी अजीव नहीं होता और अजीव कभी जीव नहीं होता। कहा भी है —

जड़ ते जड़ त्रण काल मा, चेतन चेतनरूप।
कोई कोई पलटे नहीं, छोड़ी आप स्वरूप॥

जीव और पुद्गल के अलावा इस लोक में एक धर्मद्रव्य, एक अधर्मद्रव्य और असंख्यात कालाणु सदा विद्यमान हैं। प्रत्येक जीवद्रव्य में ज्ञान, आनन्द आदि अनन्त गुण-पर्याय स्वरूप निज वैभव भरा है। परमाणु आदि अजीव द्रव्य भी अपने-अपने अनन्त गुण-पर्याय स्वभाव से भरे हुए हैं। इस लोक के ऊर्ध्व भाग में अनन्त सिद्ध भगवान अपने

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

स्वरूप में अनन्त आनन्द के वेदनपूर्वक लीन रहते हुए सदा विराजमान रहते हैं। अपने स्वरूप को भूले हुए अनन्त अज्ञानी जीव भी दुःख भोगते हुए इस लोक में सर्वत्र जन्म-मरण करते हुए भ्रमण कर रहे हैं।

आत्मा की ज्ञान-पर्याय में इस लोक के समस्त द्रव्य-गुण को एक साथ जानने की सामर्थ्य है। यह आत्मा लोक में रहते हुए भी लोक के अन्य समस्त पदार्थों से भिन्न है। उसके ज्ञानस्वभाव की एकसमय की पर्याय में ऐसी अचिन्त्य सामर्थ्य है कि वह तीन काल, तीन लोक के पदार्थों को अपने ज्ञान का ज्ञेय बना ले तो भी उनमें किञ्चित् भी राग-द्वेष न करे। अहो! ऐसे वीतरागी ज्ञानस्वभाव की क्या बात करें? ऐसे स्वभाव की पहिचान से यह जीव समभाव प्रगट करता है तथा लोक में भ्रमण का अभाव करके, मुक्ति प्रगट करके लोकाग्र में स्थिर हो जाता है।

आत्मा का अचिन्त्य सामर्थ्यमय ज्ञानस्वभाव, वीतरागी समभावरूप है। वह लोक का ज्ञाता तो है; परन्तु कर्ता नहीं है। यदि आत्मा को लोक का कर्त्ता मानें तो राग-द्वेष उत्पन्न हुए बिना नहीं रहेंगे। शरीर में रोगादि उत्पन्न होते हैं, हलन-चलन होता है; परन्तु आत्मा उनका कर्त्ता नहीं है, मात्र ज्ञाता-दृष्टा है। इस संसार में भ्रमण करते हुए इस जीव को अनन्त शरीरों का संयोग और वियोग हुआ; परन्तु इसके ज्ञानस्वभाव का कभी नाश नहीं हुआ। स्वर्ग और नरक के अनुकूल-प्रतिकूल संयोगों में भी वह उनसे भिन्न ज्ञानस्वरूप ही रहा।

यदि वह भगवान आत्मा जाग्रत हो जाए तो नरक की घोर वेदना के बीच भी अपने स्वरूप का भान करके अतीन्द्रिय आनन्द का वेदन कर सकता है। नरक में असंख्यात जीव हैं, उनके असंख्यातवें भागरूप असंख्यात जीव सम्यग्दर्शन प्राप्त कर चुके हैं। असंख्यात जीव तो वहाँ से निकलकर मनुष्य होकर मोक्ष की साधना करेंगे।

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

नरक की घोर वेदना में भी किसी जीव को ऐसा विचार उत्पन्न होता है कि अरे ! यह सब क्या है ? इतनी पीड़ा और दुःख ! क्या यही मेरा स्वरूप है ? नहीं...नहीं, मेरा स्वरूप ऐसा नहीं हो सकता...अन्तर में कोई शान्ति का स्थान होना चाहिए — ऐसा विचार करते हुए किसी को जातिस्मरण हो जाता है और याद आता है कि अरे रे ! मैंने पूर्वभव में आत्मा के हित का विचार भी नहीं किया, घोर पाप करते हुए पीछे मुड़कर भी नहीं देखा — यह सब उसी का फल है। मुझे दिगम्बर सन्त समझाते थे कि आत्मा राग और दुःख रहित ज्ञानस्वभावी है, उसके आश्रय से ही सच्चा सुख उत्पन्न हो सकता है; परन्तु मैंने उस समय यह बात नहीं समझी - इसप्रकार वैराग्यपूर्वक विचार करते-करते उस जीव के परिणाम अन्तर्मुख हो जाते हैं और वह विचार करने लगता है कि अहो ! मेरा चैतन्यतत्त्व आनन्द का धाम है, उसमें पीड़ा और प्रतिकूलता कैसे हो सकती है — इसप्रकार अतीन्द्रियज्ञान में भगवान आत्मा पर दृष्टि करते ही वह निर्विकल्प आनन्द का वेदन करते हुए सम्यग्दर्शन प्राप्त कर लेता है।

देखो तो जरा ! नरक में भी निर्विकल्प आनन्द ! भगवान आत्मा जाग उठे तो संयोग उसका कर ही क्या सकते हैं। 'मैं संयोगों से भिन्न ज्ञानानन्द स्वरूप भगवान आत्मा हूँ, मेरे ज्ञाता-दृष्टास्वभाव में विषमता नहीं है। उसका सम्यग्ज्ञान स्वसंवेदनरूप समभाव द्वारा प्रकाशित होता है। ऐसा आत्मज्ञान नरक, स्वर्ग, मनुष्य या संज्ञी तिर्यन्च - इन चारों गति में हो सकता है और उसके साथ अनन्तानुबंधी कषायों के अभाव स्वरूप वीतरागी समभाव भी होता है। ऐसा समभाव उत्पन्न होने पर जीव को लोक में परिभ्रमण नहीं करना पड़ता, वह समताभाव में वृद्धि करते-करते कुछ ही भवों में भव का अन्त करके लोकाग्र में स्थित सिद्धालय में पहुँच जाता है।

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र रूप समभाव के बिना यह जीव कषाय रूप विषम भावों के लोक में भ्रमण करता हुआ सर्वत्र दुःख ही भोगता है। चाहे वह बड़ा सेठिया हो या स्वर्ग का देव हो; परन्तु समभाव के बिना सुख नहीं है और आत्मज्ञान के बिना समभाव नहीं होता। संसार में भ्रमण करते हुए यह जीव स्वर्ग का देव होकर भी आत्मज्ञान के बिना दुःखी ही रहता है।

यह लोक क्या है? इसमें यह जीव भ्रमण क्यों कर रहा है? इस लोक में जीव कैसे-कैसे भयानक दुःख सहन करते हैं? धर्मात्मा जीवों को कैसा अतीन्द्रिय सुख होता है? इसप्रकार लोक के समस्त स्वरूप का विचार करके वैराग्यपूर्वक लोक के भ्रमण के अन्त का उपाय करना ही लोकभावना या लोक-अनुप्रेक्षा है। ये तीन लोक कैसे हैं? इनमें मुक्त जीव कहाँ रहते हैं? संसारी जीव कहाँ रहते हैं? लोक में कैसे-कैसे स्थान हैं? महाविदेह आदि क्षेत्र कहाँ है? इन सबका ज्ञान करने पर आस्तिक्य सहित वैराग्य उत्पन्न होता है और भगवान आत्मा की कोई अचिन्त्य महिमा जाग्रत होती है। इन सबको जानकर भी इनमें राग-द्वेष नहीं करनेवाला ज्ञानस्वभाव इस लोक की आश्चर्यकारी अचिन्त्य वस्तु है। आत्मा के चैतन्य चमत्कार जैसा दूसरा और कोई चमत्कार इस जगत में नहीं है?

अरे जीव ! तू यह लोक भ्रमण क्यों कर रहा है और वह कैसे मिटे? इसका विचार तो कर! समता भाव के बिना ही यह जीव इस लोक में भ्रमण करते हुए दुःखी हो रहा है। लोक भ्रमण में चारों गतियों का भ्रमण शामिल है। सिद्ध गति भ्रमण रहित है; अतः उसे ध्रुव और अचल कहा गया है।

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

यह जीव मात्र तिर्यन्च और नरक गति में ही दुःखी होता है — ऐसा नहीं है। चारों गतियों में दुःख ही दुःख है। आत्मज्ञान के बिना मनुष्य और देव भी दुःखी ही हैं। जिस भाव से गतियों का बन्ध हो, वह भाव स्वयं दुःखरूप है। यह जीव अव्रती हो या महाव्रती, आत्मज्ञान के बिना दुःखी ही है। चैतन्य के अनुभव में चित्त को जोड़ने में ही सुख है। लोक में तो सुख और दुःख दोनों ही हैं; तू दुःख से विरक्त होकर अपने उपयोग को सुख स्वभाव में जोड़ — यही लोकभावना का सार है। हे जीव! इस लोक में बाह्य अनुकूल पदार्थों को देखकर तू उनमें लुभा मत जाना। मुझे ये पदार्थ मिल जायें तो ठीक रहेगा — इसप्रकार उनमें सुखबुद्धि मत करना। परपदार्थों में सुख नहीं है, सुख तो तेरे स्वभाव में है। लोक के स्वरूप में जीव का स्वरूप भी आ गया न? उसे जैसा है, वैसा जानने पर समभाव और वैराग्य हुए बिना नहीं रहता। इन्द्रियज्ञान द्वारा लोक का पूरा स्वरूप नहीं जाना जा सकता। आत्मस्वभाव के सन्मुख होने पर अतीन्द्रिय ज्ञान उत्पन्न होता है और उससे लोक का स्वरूप भी सूक्ष्मता से जाना जाता है। लोक के समस्त पदार्थों को जानते हुए भी यह आत्मा उनमें मिल नहीं जाता, उनसे भिन्न ही रहता है; इसलिए कहा जाता है कि आत्मा लोक के ऊपर-ऊपर तैरता है।

धर्मी जीव जानते हैं कि मेरा चैतन्य लोक मेरे आत्मा में ही है, मैं उसका अवलोकन करता हूँ। मेरा लोक मुझसे बाहर नहीं है और बाहर का लोक मुझमें नहीं है। मैं उस लोक को जानता अवश्य हूँ; परन्तु मुझमें उसका प्रवेश नहीं है। इसप्रकार धर्मी जीव ने अपने अन्तर में निज लोक का अवलोकन किया है; परन्तु अज्ञानी ने लोक के बाह्य पदार्थों में एकत्वबुद्धि करके अखण्ड दुःख का ही वेदन किया है।

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

बाह्य सुख-दुःख के संयोग सदा एक से नहीं रहते; परन्तु अज्ञानी को दुःख की धारा चारों गति में चालू ही है। वह श्रीखंड खाता हो अर्थात् बाह्य विषयों को भोगता हो, तब भी दुःखी है, एक क्षण भी चैतन्य के सुख का वेदन नहीं करता। स्वानुभूति के प्रताप से ज्ञानी को चैतन्य सुख की अखण्ड धारा निरन्तर चालू है, वह लोक में कहीं भी हो उसे सदा सुख का वेदन चालू है।

वाह रे वाह! देखो यह वस्तु का अचिन्त्य स्वरूप! ऐसे वस्तु स्वरूप के चिन्तन से वीतरागता उत्पन्न होती है। सुखस्वभावी भगवान आत्मा को जाने बिना सुख का अंश भी कहाँ से मिलेगा? भाई। यदि तुझे सुखी होना हो तो अपने में भरे हुए सुख के भण्डार को देख! संयोगों में सुख खोज-खोज कर तून सारे लोक में भ्रमण कर लिया; परन्तु तुझे कहीं सुख नहीं मिला। अब अपने स्वभाव में आकर उसमें सुख की शोध कर तो तुझे उसमें भरा हुआ अपार खजाना मिलेगा। राग में भी तुझे सुख नहीं मिलेगा। चैतन्य स्वरूप निज लोक के अवलोकन में ही महान सुख है। इसके बाहर अन्यत्र कहीं भी सुख की एक बूँद भी नहीं है। जब तेरा आत्मा ही सुखधाम है तो तुझे अन्य द्रव्यों का क्या काम है ?

इस लोक का जड़ या चेतन, प्रत्येक पदार्थ अपने-अपने स्वभाव में वर्तता है, वह स्वभाव से ही उत्पाद-व्यय-ध्रुव स्वरूप है। अपनी-अपनी उत्पाद-व्ययरूप पर्याय का कर्त्ता वह स्वयं ही है, दूसरा कोई उसकी पर्याय का कर्त्ता नहीं है। इसप्रकार वस्तुस्वरूप का चित्तन करने से मोह दूर होता है अर्थात् 'मैं परपदार्थों का कर्ता-हर्ता हूँ या परपदार्थ मेरे कर्ता-हर्ता हैं — ऐसी मिथ्याबुद्धि नहीं रहती और परिणामों में समभाव प्रगट होकर स्वरूप में एकाग्रता हो जाती है। लोक भावना भाने का फल यही है। लोक का स्वरूप जानकर उसका चिन्तन करने से परम वैराग्य जाग्रत हो, भव

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

के कारण रूप भावों का वेदन हो तथा स्वरूप में स्थिरता प्रगट होकर लोक में भ्रमण छूट जाये — इसप्रकार लोक भावना भाना चाहिए। अनन्त गुणों से भरपूर मेरा चैतन्य लोक मुझमें ही है तथा छह द्रव्यस्वरूप लोक मुझसे बाह्य है; उससे मेरा कोई सम्बन्ध नहीं है — ऐसा जानकर धर्मी जीव समभाव प्रगट करते हैं।

लोक में सब कुछ समाया हुआ है। सिद्ध जीव और निगोद के जीव, परमात्मा और परमाणु, नरक-स्वर्ग, भगवान का समवशरण आदि सभी कुछ लोक में आ जाता है। ज्ञान का स्वभाव इन सबका स्वरूप जानकर भी इससे अप्रभावित रहना अर्थात् राग-द्वेष नहीं करना है। ऐसा ज्ञानस्वभाव भी लोक की एक वस्तु है। लोक के साथ-साथ स्वज्ञेयरूप ज्ञानस्वभाव को जानने से वीतरागी समभाव प्रगट होगा और लोकभ्रमण मिट जाएगा; तू लोक का ज्ञाता हो जाएगा और अनन्त सुख में स्थिर हो जायेगा — यही लोक भावना का फल है।

इसप्रकार लोक भावना का वर्णन पूरा हुआ।

***

अरे जिया, जग धोखेकी टाटी।
झूठा उद्यम लोक करत हैं, जिसमें निशदिन घाटी ॥ १ ॥
जान बूझके अन्ध बने हैं, आंखन बांधी पाटी ॥ २ ॥
निकल जायेंगे प्राण छिनकमें, पड़ी रहैगी माटी ॥ ३ ॥
'दौलतराम' समझ मन अपने, दिलकी खोल कपाटी ॥ ४ ॥

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

बोधिदुर्लभ भावना

अब बोधिदुर्लभ भावना का वर्णन करते हुए पण्डित दौलतरामजी कहते हैं :—

अंतिम-ग्रीवकलौं की हद, पायो अनन्त विरियां पद।
पर सम्यग्ज्ञान न लाधौ, दुर्लभ निज में मुनि साधौ॥ १३॥

यह जीव सम्यग्दर्शन के बिना संसार में भटकता हुआ अनन्तबार नवमें ग्रैवेयक में भी गया है; परन्तु उसे अपने स्वभाव का सम्यग्ज्ञान कभी नहीं हुआ। इसलिये सम्यग्ज्ञान इस संसार में सबसे दुर्लभ है। मुनिराज और श्रावक ऐसे दुर्लभ सम्यग्ज्ञान को साधकर उसे धारण करते हैं।

सम्यग्ज्ञान की प्राप्ति होने पर भी रत्नत्रय की पूर्णतारूपी बोधि की प्राप्ति विशेष दुर्लभ है — ऐसा चिन्तवन करके मुनिराज रत्नत्रय की साधना में अत्यन्त सावधान रहते हैं। संसार के सभी पद तो इस जीव को अनन्त बार मिल चुके हैं, अतः वे सुलभ हैं; परन्तु सारभूत नहीं है — ऐसा जानकर उसे इन पदों के प्रति विरक्ति हो जाती है और वह आत्मज्ञान को दुर्लभ और सारभूत जानकर आत्मा में एकाग्र होता है — यही बोधिदुर्लभ भावना है अर्थात् दुर्लभस्वरूप रत्नत्रय की अखण्ड साधना ही बोधिदुर्लभ भावना है।

सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र की अखण्डता को बोधि कहते हैं। मुनिराज उसी की साधना करते हैं। सम्यग्ज्ञान प्राप्त करना भी महादुर्लभ है तो रत्नत्रय की दुर्लभता की क्या बात करें? इसप्रकार उसकी दुर्लभता का विचार करके उसी आराधना का विशेष उद्यम करना बोधिदुर्लभ भावना है।

ये बारह भावनायें वैराग्य की माता है। जिसप्रकार माता पुत्र को पुष्ट करती है; उसीप्रकार बारह भावनायें वैराग्य को पुष्ट करती हैं। सम्यग्दृष्टि जीव शुद्धि की वृद्धि के लिए इन भावनाओं को भाते हुए स्वभाव में एकाग्रता करते हैं।

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

चौथी ढाल में कहा था कि यह जीव अनन्त बार देवलोक में ग्रैवेयक तक भी गया; परन्तु इसे आत्मज्ञान के बिना किंचित् भी सुख नहीं मिला। यहाँ भी यही बात कही है कि इस जीव ने अन्तिम ग्रैवेयक में देवपद अनन्तबार प्राप्त किया; परन्तु इसे सम्यग्ज्ञान नहीं हुआ। इसलिये देवपद की अपेक्षा सम्यग्ज्ञान अर्थात् बोधि प्राप्त होना दुर्लभ है।

यदि शुभराग करते-करते सम्यग्ज्ञान हो जाता होता तो अनन्त बार ग्रैवेयक प्राप्त करने योग्य शुभराग होने पर भी सम्यग्ज्ञान क्यों नहीं हुआ? इसलिये विचार करना चाहिए कि सम्यग्ज्ञान प्राप्त करने की रीति शुभराग से भिन्न है। यदि शुभराग से सम्यग्ज्ञान प्राप्त हो जाता तो उसे दुर्लभ क्यों कहते? यह जीव पाप और पुण्य करते-करते चारों गतियों में अनन्तभव धारण करता है। अज्ञानी जीव संसार में अकेला पापभाव ही करता है और पुण्य बिल्कुल नहीं करता — ऐसा नहीं है। वह पुण्य करके भी अनन्त बार स्वर्ग में गया; परन्तु सम्यग्दर्शन की प्राप्ति नहीं हुई।

यहाँ यह ध्यान में रखना चाहिए कि नवमें ग्रैवेयक में सभी जीव मिथ्यादृष्टि नहीं है। सम्यग्दृष्टि जीव भी नवमें ग्रैवेयक में जाते हैं। वहाँ सम्यग्दृष्टि जीव बहुत हैं और मिथ्यादृष्टि जीव थोड़े हैं, उनमें से भी कोई जीव सम्यग्दर्शन प्राप्त कर लेते हैं। नवमें ग्रैवेयक जाने की योग्यता वाले मिथ्यादृष्टि जीव को भी व्यवहार में जैनधर्म की श्रद्धा तथा निर्दोष द्रव्यलिंग सहित महाव्रतों का पालन होता है। यदि उनमें भी गड़बड़ हो अर्थात् दोष हों तो वह ग्रैवेयक नहीं जा सकते।

दूसरी बात यह भी ध्यान देने योग्य है कि अनन्तबार नवमें ग्रैवेयक में जाने की और चार गति में भटकने की बात निगोद से निकलकर व्यवहार राशि में आने वाले जीवों की अपेक्षा है। इनसे भी अनन्तगुण जीव ऐसे है जो अभी तक निगोद से निकले ही नहीं हैं, अभी तक उन्होंने

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

त्रसपर्याय भी प्राप्त नहीं की। निगोद से निकलकर त्रस पर्याय पाना भी अतिदुर्लभ है। त्रसपर्याय में भी मनुष्यायु, जैनधर्म एवं सम्यग्दर्शन की प्राप्ति होना तो उत्तरोत्तर अधिक-अधिक दुर्लभ है तो फिर रत्नत्रय की पूर्णता पाना कितना दुर्लभ है। इसका विचार करना चाहिए।

भूधरदासजी ने भी बोधिदुर्लभ भावना में लिखा है —

"दुर्लभ है संसार में एक यथारथ ज्ञान"

इस संसार में पुण्य करना एवं उसका फल प्राप्त करना सुलभ है; परन्तु सम्यग्ज्ञान प्राप्त करना अतिदुर्लभ है। सम्यग्ज्ञान तो राग रहित अतीन्द्रिय ज्ञानस्वभावी आत्मा को जानने से होता है। यहाँ उसे दुर्लभ कहकर उसकी प्राप्ति की प्रेरणा देते हैं। दुर्लभता बताकर हिम्मत हारने की बात नहीं है; क्योंकि दुर्लभ कहा है, अशक्य नहीं कहा। दुर्लभ होने पर भी सच्चे पुरुषार्थ द्वारा सुलभ हो जाता है। अनेक जीवों ने सम्यग्ज्ञान प्रकट किया है। जो न करे, उसके लिए दुर्लभ है; परन्तु जो करे, उसके लिए तो सुलभ ही हो गया न। इसप्रकार सम्यग्ज्ञान प्राप्त करने की प्रेरणा पाकर रत्नत्रय का पुरुषार्थ करना ही सच्ची बोधिदुर्लभ भावना है।

दुर्लभ को सुलभ बनाने के लिये यह बोधिदुर्लभ भावना है। जो दुर्लभ है, वह अपने लिये सदैव दुर्लभ ही रहेगी — ऐसा नहीं है। यदि ऐसा ही हो तो इस जीव को रत्नत्रय की प्राप्ति कैसे होगी? सम्यग्ज्ञान की प्राप्ति जगत के जीवों के लिये भले ही दुर्लभ हो; परन्तु धर्मी के लिये तो सुलभ हो गयी है। जैसे त्रसपर्याय प्राप्त होना अनन्त जीवों के लिये दुर्लभ है; परन्तु स्वयं को तो वह प्राप्त हो गयी है, फिर अपने लिये दुर्लभ कहाँ रही? अपने लिये तो सुलभ ही हो गई। इसीप्रकार शुद्धात्मा की बात सुनने मिलना भी दुर्लभ है; परन्तु सन्तों के प्रताप से अपने को तो वह सुलभ हो गई है। इसलिए अब इससे आगे बढ़ने की भावना और

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

प्रयत्न करना चाहिए। सम्यग्दृष्टि को तो सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान भी सुलभ हो गये हैं। अब वह बोधिरूप रत्नत्रय की दुर्लभता का विचार करके उसके लिये प्रयत्न करता है — यही बोधिदुर्लभ भावना है।

संसार में भ्रमण करते हुए यह जीव दुर्लभ मनुष्यभव प्राप्त करके शुभभावरूप शुक्ललेश्या करके स्वर्ग में भी गया; परन्तु इसमें कोई अपूर्वता नहीं है। इन सबकी अपेक्षा सम्यग्दर्शन और आत्मज्ञान प्राप्त करना महादुर्लभ और अपूर्व है। इसलिये चौथी ढाल में कहा था कि करोड़ों उपाय करके भी हे भव्य ! तू सम्यग्ज्ञान प्रगट कर। यह सम्यग्ज्ञान ही विषय-कषाय के दुःखों से छुड़ाकर मोक्ष सुख प्राप्त कराता है। जितने जीव मोक्ष गये हैं, जो जा रहे हैं और आगे जायेंगे — यह सब सम्यग्ज्ञान की ही महिमा है। आत्मज्ञान के सिवाय सुख का दूसरा कोई उपाय नहीं है।

ऐसा आत्मज्ञान पुण्य-पाप के द्वारा उत्पन्न नहीं होता, क्योंकि वह पुण्य-पाप से भिन्न है। पुण्य-पाप तो ज्ञान रहित दुःखरूप परिणाम है, आत्मा का रस-कस तो ज्ञान में हैं, राग में नहीं। आत्मा चैतन्य रस का अखण्ड पिण्ड है। जैसे शक्कर की डली में सर्वत्र मिठास ही भरी है; इसीप्रकार आत्मा भी सर्वत्र चैतन्य रस से भरा है। ऐसे आत्मा के सन्मुख उपयोग करके उसे जानना ही सम्यग्ज्ञान है। वह सम्यग्ज्ञान अतीन्द्रिय सुख के वेदन सहित है। अज्ञानी शुभराग से ज्ञान और सुख की उत्पत्ति मानता है, परन्तु ऐसा मानना भ्रम है। उसे शुभराग और सम्यग्ज्ञान में क्या अन्तर है — इसकी खबर नहीं है। वह अन्तर इसप्रकार है :—

एक तो राग भाव है और दूसरा वीतराग भाव है।

राग, मोह की जाति का है, और ज्ञान, धर्म की जाति का है।

राग संसार का कारण है, और ज्ञान में मोक्ष का कारण है।

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

राग में आकुलता का वेदन है और ज्ञान में शान्ति का वेदन है।
राग में एकान्त दुःख है, और ज्ञान में परम सुख है।
राग से कर्मबन्ध होता है, और ज्ञान से कर्मों से छूटते हैं।
राग विभाव है और ज्ञान स्वभाव है।
राग अशुद्धता है और ज्ञान शुद्धता है।
राग हेय है और ज्ञान उपादेय है।

शुभराग ज्ञान से अत्यन्त भिन्न है, तो भी अज्ञानी शुभराग से सम्यग्ज्ञान या धर्म होना मानता है अर्थात् वह उन्हें एक-दूसरे से मिलाता है, उनमें भेद-ज्ञान नहीं करता। राग होना दुर्लभ नहीं है; परन्तु राग रहित आत्मा का अनुभव होना दुर्लभ है।

सम्यग्दर्शन-ज्ञान होने के बाद चारित्र दशा होना दुर्लभ है। ऐसी दुर्लभ-रत्नत्रय बोधि को मुनिराज अपने आत्मा में साधते हैं। वे अपने आत्मस्वभाव को ही साधनरूप करके बोधि को साधते हैं। बोधि की साधना राग द्वारा नहीं होती। दया, सत्य आदि के शुभराग से भी सम्यग्दर्शनादि की साधना नहीं होती, फिर हिंसा-असत्यादि पाप भाव की तो बात ही कहाँ रही? पापभाव तो दुर्गति का कारण है और पुण्यभाव भी देवगति के बन्ध का कारण है; अतः उससे भी मोक्षमार्ग नहीं सधता। चैतन्यतत्व तो शुभ और अशुभ समस्त राग से पार है। उसकी सन्मुखता से ही सम्यक्त्वादिरूप मोक्षमार्ग सधता है अर्थात् उस रूप परिणमन होता है। इसप्रकार वीतरागमार्गी सन्तों ने स्वयं बोधिरूप धर्म की साधना की और अन्य जीवों को भी उसकी साधना का उपदेश दिया है। इस उपाय द्वारा आत्मा की प्राप्ति करना सुलभ है, सुख के वेदन सहित आत्मा का अनुभव होता है।

इस जीव ने आज तक अपने स्वभाव को प्राप्त नहीं किया। इसलिए वह दुर्लभ है; परन्तु अब स्वयं को स्वयं से बोधि प्राप्त होने से वह सुलभ

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

हो गया। जिसने कभी पहले कोई रास्ता न देखा हो तो पहली बार वहाँ जाना कठिन लगता है, परन्तु बारम्बार वहाँ जाने से अभ्यास हो जाने से वहाँ जाना सुलभ लगने लगता है; सहज लगने लगता है। इसीप्रकार धर्मात्मा जीव को बारम्बार अभ्यास से आत्मा का अनुभव और सम्यग्दर्शनादि सुलभ लगने लगते हैं, सहज लगने लगते हैं। अहा! मेरी सम्यक् बोधि मेरे स्वभाव द्वारा मुझे सुलभ हो गयी है। नियमसार में कहा है कि मुनिजनों को आत्मा के आनन्द की अनुभूति सतत सुलभ है। इसप्रकार आत्मप्राप्ति को सुलभ कहना निश्चय है और दुर्लभ कहना व्यवहार है।

अज्ञानी जीव संसार में भ्रमण करते-करते देवलोक में भी गया अर्थात् उसने पुण्य तो किया; परन्तु निजस्वभाव का साधन नहीं किया। राग रहित निज-पद को जानकर पर-पद में ही रचा रहा। अरे! जगत के जीवों को निज-बोधि कैसी दुर्लभ है। ऐसी महादुर्लभ बोधि निजस्वभाव के साधन से मुझे प्राप्त हुई है — इसप्रकार धर्मी को स्वभाव की परम महिमा आती है।

शुद्धज्ञानमय बोधि का स्वरूप जानना तथा निज साधन से उसकी प्राप्ति होती है — ऐसा जानना ही सच्ची बोधिदुर्लभ भावना है। राग द्वारा बोधि की उत्पत्ति माननेवाले को सच्ची बोधिदुर्लभ भावना नहीं होती; उसे बोधि के नाम पर राग की ही भावना होती है। भाई! राग तो शत्रुपक्ष का भाव है, वह तुझे बोधि का साधन कैसे हो सकता है? तेरी स्वयं की चैतन्यचमत्कारी वस्तु स्वयं ही अपने में बोधि का साधन होती है। तू बाह्य साधनों की शोध मत कर? अन्तर्मुख होकर अपने आत्मा को ही साधनरूप से ग्रहण कर तो अपूर्व और दुर्लभ बोधि तुझे सुलभ हो जाएगी। तून आज तक अपनी चैतन्यवस्तु को लक्ष्य में नहीं लिया,

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

इसलिए तुझे अपनी ही बोधि, दुर्लभ हो गई। अरे ! अपनी ही प्राप्ति कहीं दुर्लभ हो सकती है? अपना स्वभाव अपने लिए तो सुलभ ही है; परन्तु उसे परपदार्थों या राग में से प्राप्त करना चाहे तो वह कैसे मिलेगा? भाई ! तेरा स्वभाव तुझमें ही है; इसलिए वह तेरे लिए सुलभ है — ऐसा जानकर तू प्रसन्न हो जा और अर्न्तमुख होकर अपने स्वभाव को साधन बना, इससे तेरी बोधि सुलभ हो जाएगी। जिसप्रकार मुनियों ने इसे निज में साधा है, उसीप्रकार तू भी इस दुर्लभ बोधि को निज में साध ले। इससे तेरे जन्म-मरण का अन्त आ जायेगा और तुझे मोक्षसुख की प्राप्ति होगी।

अहो ! अत्यन्त महिमावन्त आत्मा में ऐसा चमत्कार भरा है कि उसमें से अतीन्द्रिय आनन्दमय सिद्धपद निकलता हैं। उसे अपने में देखने की ललक भी किसी बिरले जीव को होती है। बहुत से लोग धर्म के नाम पर राग और बाह्य क्रियाओं में ही अटक जाते हैं; परन्तु रंग-राग से पार चिदानन्दस्वभावी भगवान आत्मा को नहीं जानते। वस्तु का स्वरूप जानने पर ही उसकी भावना होती है; बिना जाने भावना किसकी करेगा? आत्मा को जानने में ही अपूर्वता है, इसके अतिरिक्त और कुछ भी अपूर्व नहीं है। कहा भी है —

मिथ्यात्व आदिक भाव को चिरकाल भाया जीव ने।
सम्यक्त्व आदि भाव रे ! भाए कभी नहिं पूर्व में॥

इस जीव ने अनादिकाल से मिथ्यात्वादि भावों को ही भाया है, सम्यक्त्व आदि भावों को कभी नहीं भाया है; इसलिए अब भव का अभाव करने के लिए चैतन्यस्वभाव की भावना भाता हूँ; परन्तु स्वभाव को देखे तो भावना भाई — ऐसा कहा जाए। स्वभाव की पहचान करके उसमें लीनता के लिए भी यही भावना भाई जाती है। जिसने स्वभाव की पहचान नहीं की, उसे सर्वप्रथम अपने स्वभाव की पहचानकर

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

सम्यग्दर्शन-ज्ञान रूप बोधि प्रगट करना चाहिए। सम्यग्दर्शन-ज्ञान भी बोधि का ही अंश है।

अहा ! जो अनन्त सुख का अक्षय भण्डार है, अनन्त गुणों का स्वामी है, जिसके सम्मुख होने से ही महान आनन्द उत्पन्न होता है, जिसके आश्रय से क्षणमात्र में सम्यग्दर्शन से लेकर सिद्धपद तक प्रगट हो जाते हैं — ऐसा परमेश्वर स्वयं आत्मा ही है। यह आत्मा किसी अन्य साधन के बिना स्वयं ही अपना साधन होकर परमेश्वर होता है। इसप्रकार अपने स्वरूप को लक्ष्य करते हुए उसका निर्णय करने से विपरीत अभिप्राय छूट जाता है और बाह्य विषयों का रस उड़ जाता है; क्योंकि उसे भान हो जाता है कि " मैं स्वयं सहजात्मस्वरूप चिदानन्द भगवान हूँ, मेरा सुख मुझमें ही है, बाह्य पदार्थों या राग के साथ मेरा स्व-स्वामी सम्बन्ध नहीं है । मेरे अनन्तगुण और पर्यायें ही मेरे 'स्व' हैं और मैं उनका स्वामी हूँ।" — ऐसा भेद-ज्ञान होने पर यह जीव अन्य सभी परपदार्थों से छूटकर अपने में आ जाता है और उसे अपनी बोधि सुलभ हो जाती है।

अपनी स्ववस्तु अपने लिए सुलभ है; क्योंकि वह अपने में ही है। जो जिसका 'स्व' होता है, वह वही होता है, उससे भिन्न नहीं होता। ज्ञान आत्मा का 'स्व' है, वह कभी आत्मा से भिन्न नहीं होता। ज्ञान की भाँति यदि राग भी आत्मा का 'स्व' हो तो आत्मा और राग कभी भिन्न नहीं हो सकते। शुद्ध आत्मा का 'स्व' अर्थात् उसका निज वैभव तो ज्ञानादि स्वभाव है। वह ज्ञान अनादि से अनन्तकाल तक कभी आत्मा से भिन्न नहीं होता। आत्मा का ज्ञानस्वभाव रागादि परभाव का स्पर्श नहीं करता। इसप्रकार निजस्वभाव की भावना में से सम्यक्त्व, आनन्द आदि की अपूर्व धारा बहती है, उससे शुद्धता की वृद्धि और निर्जरा होती है।

जिन्हें स्वभाव की अनुभूति हो गई है, ऐसे धर्मात्मा भी 'अहो मेरा अपूर्व शान्त स्वभाव ऐसा अद्भुत है'— इसप्रकार स्वभाव की महिमा

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

का बारम्बार घोलन करते हैं, उसमें एकाग्र होने के लिए उसकी भावना भाते हैं। अज्ञानी को हीरा-मोती-माणक, स्त्री, पुत्र, बाग-बगीचा-पहाड़, मोटर- गाड़ी आदि की महिमा आती है; परन्तु अपने अद्भुत चैतन्यस्वभाव की महिमा नहीं आती; इसलिए उसे सम्यक्त्वादि बोधि की प्राप्ति नहीं होती। अहो ! जगत के बाह्य पदार्थों की अपेक्षा मेरे आत्मा का स्वभाव कोई अचिन्त्य और अपूर्व है, उसके सन्मुख देखने पर अपूर्व सुख उत्पन्न होता है — इसप्रकार अपने स्वभाव की महिमा आने पर रागादि और बाहय पदार्थों की महिमा का रस टूट जाता है और निज बोधि सुलभ हो जाती है। कहा भी है "प्रभु मेरा सब ही बातें पूरा....." भगवान-आत्मा अपने पद से परिपूर्ण है, वह अपने अनुभव में स्वयं ही अपना साधन होता है।

इस जीव को बाह्य अनुकूलताएँ-प्रतिकूलताएँ अनन्त बार प्राप्त हुई हैं; परन्तु ये सब आत्मा से बाह्य हैं। इनसे भिन्न आत्मा का निजपद लक्ष्य में लेने पर सातवें नरक की प्रतिकूलता या स्वर्ग की अनुकूलता में भी यह जीव सम्यग्दर्शन प्राप्त कर सकता है। केवली-समुद्घात के समय अरहन्त भगवान के आत्मप्रदेश सातवें नरक में भी पहुँचते हैं, तो भी उनमें परम अतीन्द्रिय सुख का ही वेदन होता है, उनमें नरक में दुःख या संयोगों का वेदन नहीं होता। उस समय उसी क्षेत्र में रहने वाले नारकी जीव को महादुःख का वेदन होता है। केवली-भगवान और नारकी दोनों एक क्षेत्र में रहने पर भी एक दूसरे के सुख-दुःख का अनुभव नहीं करते। यदि कोई नारकी सम्यग्दृष्टि हो तो वह नरक के संयोग में भी अतीन्द्रिय आनन्द का अनुभव करता है और स्वर्ग का देव भी यदि मिथ्यादृष्टि हो तो मात्र दुःख का ही अनुभव करता है है। संयोग तो जीव से भिन्न है; अतः वे जीव को सुखी-दुखी नहीं करते।

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

भाई ! इन्द्र और अहमिन्द्र पद भी लौकिक पद हैं, यह कोई चैतन्य के निजपद नहीं है। तू पर-पद में कहाँ सुख खोज रहा है? सुखी होना हो तो अंदर निजपद में उतर न ! मेंढक जैसा तुच्छ प्राणी भी जब अपने महान निजपद को देखता है तो जिसप्रकार तार में बिजली तुरन्त प्रवेश कर जाती है, उसीप्रकार वह भी स्वरूप में तुरन्त उतर जाता है। जिनेन्द्र भगवान द्वारा कहे गए अपने चैतन्यतत्त्व को लक्ष्य में लेते ही यह जीव प्रज्ञा-छैनी के प्रहार द्वारा समस्त परद्रव्यों और परभावों को जुदा करके अपने चैतन्य दरबार में प्रवेश करता है और सम्यग्दर्शन सहित अपूर्व आनन्द का भोग करता है। उसका ज्ञान भी सम्यक् होकर बिजली के समान चैतन्यस्वभाव को प्रकाशित करता है। अतीन्द्रिय प्रकाश करता हुआ वह ज्ञान चैतन्यपाताल की गहराई में उतर जाता है। ऐसे भेद-ज्ञान की प्राप्ति अपूर्व और दुर्लभ है।

भेद-ज्ञान का चिन्तन करनेवाले जीव को समस्त बाह्य वैभव और परपदार्थों के प्रति दृढ़ वैराग्य होता है। उसमें कहीं उसे सुख या अपूर्वता नहीं लगती। यही चिन्तन बोधिदुर्लभ भावना है।

जो जीव अपने सुख स्वभाव को भूलकर संयोगों और राग में सुख मानता है, वह निरन्तर दुःखी है। वह सोता हो या जागता हो; पाप करता हो या पुण्य करता हो, अज्ञान के कारण उसे दुःख का ही वेदन है। मिथ्यादृष्टि की भूमिका में होने वाले शुभराग के असंख्य प्रकार हैं, उन सबको यह जीव अनन्त बार कर चुका है, उनमें कोई अपूर्वता या कल्याण नहीं है। शुभराग से विलक्षण, चैतन्यस्वभाव के संवेदन रूप सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्ररूप बोधि अपूर्व है और कल्याणरूप है। हे जीव ! तू ऐसी बोधि का स्वरूप समझकर अपनी रुचि की दिशा बदल। अपनी चैतन्यधारा को राग की कीच की तरफ मत बहा, उसे वहाँ से पीछे लौटाकर आनन्द के समुद्र में मिला....तुझे आनन्द की प्राप्ति होगी।

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

अब और अधिक क्या कहा जाए? पाप के फलमें विषाद मत कर और पुण्य के फल में फूल मत जा (हर्ष मत कर)। लाखों बात में यही एक बात सारभूत है कि जगत के द्वंद-फंद, राग-द्वेष छोड़कर अन्तर में अपने पवित्र आत्मा का ध्यान कर। इससे तुझे अपूर्व बोधि-समाधि प्राप्त होगी।

भगवान आत्मा के परम आनन्द स्वभाव को पहचानकर, उसका चिन्तन कर, उसमें स्थिर होना ही बोधि है। सब शास्त्रों का यही सार है। स्वभाव सन्मुख होते ही अनादिकाल के भव-भ्रमण का अन्त आ जाता है और सम्यग्दर्शनपूर्वक मोक्षमार्ग का प्रारम्भ हो जाता है। सारभूत और छोटी-सी बात इतनी है कि स्वभाव के सन्मुख हो और विभाव से विमुख हो। इसके बिना सब व्यर्थ की हाय-हाय है। शुभराग करने से भी भव का अन्त नहीं होता; क्योंकि उसमें भवबन्धन को तोड़ने की ताकत नहीं है। यह ताकत तो सम्यग्दर्शन में ही है।

सुलभ और दुर्लभ की व्याख्या निम्न शैलियों से की जा सकती है—

(१) पुण्य के फल में बाह्य संयोग अनन्त बार मिले; इसलिये वे सुलभ हैं; और सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र आजतक नहीं हुए; अतः दुर्लभ हैं।

(२) परद्रव्य का संयोग मिलना आत्मा के आधीन नहीं है; अतः वह दुर्लभ है और सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र जीव के आधीन है; इसलिए सुलभ है।

उपर्युक्त दोनों विवक्षा समझकर स्वभाव की साधना का उद्यम करना चाहिए। दुर्लभ मानो या सुलभ मानो, अन्तर्मुख होकर आत्मा का अनुभव करना ही बोधि की प्राप्ति का एकमात्र उपाय है। इसी उपाय से अनन्तजीव मोक्षसुख प्राप्त कर चुके हैं, कर रहें हैं, और करेंगे। अभी भी

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

स्वानुभव द्वारा मोक्ष की साधना करनेवाले जीव हैं। मोक्ष का उपाय तीनों काल में एक ही है, उसमें पर के आश्रय की आवश्यकता कहीं नहीं है। अहा ! मोक्षमार्ग कितना सुन्दर और स्वाश्रित है। सभी जिनेन्द्र भगवन्तों ने इसी मार्ग द्वारा मोक्ष की साधना की है तथा मुमुक्षुओं के लिए भी इसी मार्ग का उपदेश दिया है।

अरे जीव ! तेरी मोक्षसाधना में कहीं पर का आश्रय हो सकता है? वीतरागी मोक्षसुख की साधना में राग का आलम्बन हो सकता है? राग का सूक्ष्म अंश भी मोक्षमार्ग में विघ्न करने वाला है। तेरी चैतन्य वस्तु में क्या कमी है, जो तुझे मुक्ति के लिए पर की आशा रखना पड़े ! भाई ! तेरी वस्तु महान है, पूर्ण सामर्थ्यवान है और सुलभ है। उसके अनुभव में कोई क्लेश नहीं है, बोझा नहीं है; क्योंकि वह तुझसे दूर नहीं है। उसका अनुभव करने में पैसे खर्च नहीं होते, दूर देश में नहीं जाना पड़ता, कोई शारीरिक कष्ट भी नहीं होता, किसी से प्रार्थना भी नहीं करनी पड़ती। इसप्रकार आत्मा के अनुभव में क्लेश तो कुछ भी नहीं है और उसका फल महासुखकारी है। ऐसा सुलभ अनुभव कौन नहीं करेगा? अरे ! जिस अनुभव में मन का भी अवलम्बन नहीं है तो अन्य पदार्थों की क्या बात करना? इसलिए हे जीव ! तू शुद्धचिद्रूप का अनुभव कर— ऐसे आत्मानुभव की प्रेरणा तत्त्वज्ञान तरंगिणी में दी है।

अहा ! अत्यन्त आनन्दमय स्वानुभूति में पुण्य या राग की जरूरत नहीं पड़ती, इसके बिना ही स्वानुभव होता है। जीव को राग की ऐसी मिठास लगी है कि मानो पुण्य छोड़ने से धर्म का साधन छूट जाएगा। अरे भाई ! तेरा चैतन्यतत्व पुण्य में नहीं है, तेरी चेतना पुण्य के आधार से नहीं टिकी है जो पुण्य छूटते ही तू निराधार हो जायेगा। पुण्य छूटने पर भी तू अपने चैतन्य उद्यान में केलि करेगा। पुण्य और राग के बिना

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

तू दुखी नहीं होगा; बल्कि राग रहित परम सुख का अनुभव होगा। देखो ! अरहन्त और सिद्ध भगवान भी पुण्य बिना कैसे परम सुखी हैं। इससे सिद्ध होता है कि प्रत्येक आत्मा राग के बिना ही अपने चैतन्यस्वभाव से टिकने वाला और सुखी होने वाला है। पुण्य या राग के बिना आत्मा मर नहीं जाता। पुण्य, आत्मा का जीवन या शरण नहीं है, पुण्य-पाप रहित चैतन्यस्वभाव ही शरणभूत है और उसी की शरण लेकर मुनिराज मोक्ष की साधना करते हैं। समयसार के पुण्य-पाप अधिकार में यह बात बहुत अच्छी तरह समझाई है। वहाँ पुण्य को भी बन्ध कारण सिद्ध करते हुए मोक्षमार्ग में उसका निषेध किया है; तब शिष्य पूछता है कि यदि पुण्य भी बन्ध का कारण है तो मोक्षमार्गी मुनिराज किसकी शरण लेंगे? तब आचार्यदेव कहते हैं कि भाई ! शुभाशुभकर्म छूटने पर मुनिराज अशरण नहीं हो जायेंगे, तब भी वे अपने ज्ञानस्वभाव की शरण लेकर अतीन्द्रिय निर्विकल्प परमानन्द-अमृत पीयेंगे। ऐसे रागरहित ज्ञान और आनन्द के स्वाद को ज्ञानी ही जानते हैं । रागादि कषाय में लीन अज्ञानी जीव उस आनन्द के स्वाद को नहीं जान सकते।

जिसप्रकार चैतन्यस्वभाव के अस्तित्व के लिए राग या पर की आवश्यकता नहीं है; उसीप्रकार उसकी अनुभूति के लिए भी परपदार्थ या राग की आवश्यकता नहीं है। अरे जीव ! अपने स्वाधीन आत्मस्वभाव की ओर एक बार नजर तो कर ! उसका विश्वास तो कर, परपदार्थों से दृष्टि उठा और अन्तर में विराजमान अपने परमात्मा पर दृष्टि दे। उस पर नजर करते ही तू निहाल हो जायेगा। अभी तक दुर्लभ तत्त्व तुझे सुलभ हो जायेगा।

अरे जीव ! इस समय आत्मसाधना का अपूर्व अवसर आया है, अब दूसरे कार्यों में उलझना ठीक नहीं। जिसप्रकार यदि घर में राजा

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

आदि महान पुरुष आवें तो हम साधारण व्यक्तियों से बात करना छोड़कर, उनसे लक्ष्य हटाकर उन महान पुरुष की ओर ही लक्ष्य रखते हैं, उनसे सम्मानपूर्वक बातें करते हैं, उनका स्वागत करते हुए बहुमान करते हैं कि 'आइये पधारिये....पधारिये, हमारी कुटिया पवित्र कीजिये।' यदि उनके सामने न देखकर, उनका उचित सम्मान न करके दूसरे काम में उलझ जायें तो उनका अनादर होगा; उसीप्रकार महान परमात्मारूप अपना चैतन्य भगवान अपने में विराजमान है, यह उसकी अनुभूति का अवसर है; इसलिए दूसरों का प्रेम छोड़कर उसकी तरफ देख एवं अन्तर्मुख उपयोग द्वारा उसका परिचय कर तो वह प्रसन्न होकर तुझे सम्यक्त्वादि रत्न प्रदान करेगा। यदि तू अपने चैतन्य महाराजा की ओर देखने के बदले रागादि तुच्छ विकारीभावों की ओर देखेगा, उन्हीं के परिचय में अटक जायेगा तो यह तेरे चैतन्य परमेश्वर का अनादर होगा, उसकी विराधना होगी।

अरे भाई ! अनुभूति में परमात्मा के शुभागमन के इस मंगल अवसर पर तू राग के संग में मत रुक ! राग का आदर करने से तुझे बोधि की प्राप्ति नहीं होगी, परमात्मा के आदर से बोधि की प्राप्ति होगी; क्योंकि उसमें बोधि प्रदान करने की सामर्थ्य है, इसलिए स्वभाव सन्मुख होकर अखण्ड बोधि की भावना कर। यही भावना मोक्ष सुख की दातार है।

इसप्रकार बोधिदुर्लभ भावना का वर्णन पूरा हुआ।

***

बोधि आपका भाव है, निश्चय दुर्लभ नाहिं।
भव में प्रापति कठिन है, यह व्यवहार कहाहिं॥
— बारह भावना : पण्डित जयचन्दजी छाबड़ा

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

धर्म भावना

अब धर्म भावना का वर्णन करते हुए पण्डित दौलतरामजी कहते हैं :—

जो भाव मोहतैं न्यारे, दृग-ज्ञान-व्रतादिक सारे।
सो धर्म जबै जिय धारे, तब ही सुख अचल निहारे॥ १४॥

मोह रहित, शुद्ध सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र रूप भाव धर्म हैं। ऐसे धर्म को जब यह जीव धारण करता है, तभी अपने में अचल सुख को देखता है अर्थात् उसे साक्षात् अनुभव करता है। ऐसे धर्म का चिन्तन करके उसकी आराधना में अपने आत्मा को जोड़ना ही धर्म भावना है।

रत्नत्रयधर्म शुभराग से भी न्यारा अर्थात् भिन्न है; क्योंकि शुभराग भी मोह का ही भेद है। आचार्य कुन्दकुन्द ने अष्टपाहुड़ के भावप्राभृत में मोह-क्षोभ रहित शुद्धभाव को धर्म कहा है और व्रत-पूजादि रूप शुभभावों को पुण्य कहा है, उन्हें धर्म नहीं कहा; अतः उनसे मोक्षसुख की प्राप्ति नहीं होगी। हे जीव! यदि तू अपने में अचल सुख प्रगट करना चाहता हो तो तू मोहभाव से भिन्न सम्यग्दर्शनादि धर्मभाव प्रगट कर धर्मभावना भा! इसी उपाय से तू सुखी हो सकेगा।

धर्मभाव रूप परिणमित आत्मा स्वयं ही धर्म है। जब यह आत्मा सर्वप्रथम अनेकान्तमय वस्तुस्वरूप के प्रतिपादक आगम के अभ्यास में प्रवीणता से मोहदृष्टि अर्थात् मिथ्यात्व का नाश करता है, तभी उसे धर्म का प्रारम्भ होता है। मिथ्यात्व का नाश करके वीतरागचारित्र में आरूढ़ होने वाले मुनि-महात्मा साक्षात् धर्म हैं। देखो! वीतरागचारित्र में आरूढ़ मुनि को धर्म कहा है, राग या पुण्य में आरूढ़ को धर्म नहीं कहा; क्योंकि मोह से भिन्न निर्मोह भाव ही धर्म है। शुभराग भी मोह का ही प्रकार है, धर्म का प्रकार नहीं है।

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

मोक्ष के हेतुभूत सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र-ये तीनों भाव मोह से भिन्न हैं, इनमें राग नहीं समाता। चतुर्थ गुणस्थान में उत्पन्न होने वाला रागभाव सम्यक्त्वरूप धर्म में नहीं समाता। रागभाव धर्म के शुद्धभाव से बाहर ही रहता है। राग तो चारित्रमोह रूप है और चारित्रमोह से भिन्न भाव, चारित्रधर्म है। अरे रे! ऐसे सुन्दर वीतरागधर्म को भूलकर लोग शुभराग में और देह क्रिया में धर्म मान बैठे हैं। भाई! वीतराग धर्म का पन्थ न्यारा है। जो जीव धर्म का स्वरूप पहचानता है, वही सच्ची धर्म भावना भाता है तथा मोक्षसुख का स्वाद चखता है।

अनित्य भावना से लेकर धर्मभावना तक इन बारह भावनाओं को तत्त्वार्थसूत्र में संवर के उपाय के रूप में कहा गया है। वह सूत्र इसप्रकार है —

अनित्याशरणसंसारैकत्वान्यत्वाशुच्यास्रवसंवरनिर्जरा लोक बोधि दुर्लभ धर्मस्वाख्यातत्त्वानुचिन्तनमनुप्रेक्षाः ॥ ७ ॥

इस सूत्र की टीका करते हुए आचार्य अकलंकदेव राजवार्तिक में लिखते हैं —

"उत्तम क्षमादि भावरूप परिणमित क्षमाशील आत्मा अपने हित की चाहना से वैराग्य पोषक बारह भावनाओं का चिन्तन करता हे। ये बारह भावनाएँ तत्त्व का ध्यान कराती हैं, उनके निरन्तर चिन्तन से आत्मा क्रोधादि समस्त विकारों से दूर हो जाता है। दीक्षा ग्रहण करते समय तीर्थंकर भगवान भी ये बारह भावनायें भाते हैं। ये बारह भावनायें भव्यजीवों को आनन्दजननी हैं, दशधर्मों की दृढ़ता और परीषहजय में निमित्त हैं। इनका चिन्तन करने वाले जीव को उत्तम क्षमादि धर्मों का पालन अच्छी तरह होता है और परीषहादि जीतने के प्रति उत्साह रहता है।"

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

इन बारह भावनाओं में यह धर्मभावना का वर्णन चल रहा है। आत्मस्वरूप की आराधना द्वारा मोह रहित भाव प्रगट करना धर्म है, यही चारित्र है और यही वीतरागता है। ऐसे धर्म को धारण करनेवाला अपने में अचल सुख को देखता है।

बारह भावनाओं के वर्णन में अनेक स्थानों पर सुख प्राप्ति के प्रयोजन की सिद्धि होना बताया है। जैसे— **संवर लहि सुख अवलोके (छन्द १०) सोई शिव सुख दरशावे (छन्द ११)और तब ही सुख अचल निहारे (छन्द १४)** । ये सभी भावनायें चैतन्य सुख के साक्षात् वेदन सहित हैं। धर्म अर्थात् सम्यग्दर्शन, ज्ञान और चारित्र। ये सभी भाव मोह से भिन्न हैं। सम्यग्दर्शन धर्म, मिथ्यात्व से रहित है। सम्यग्ज्ञान धर्म अज्ञान से रहित है और सम्यक्चारित्र धर्म रागादि मोहभाव से रहित है — इसप्रकार ये तीनों भाव मोह से रहित अर्थात् शुद्ध हैं।

जिनशासन में मोह-क्षोभ रहित परिणाम को धर्म कहा है, राग को धर्म नहीं कहा। यहाँ तो मोक्ष के कारणरूप धर्म की बात है। स्वर्ग के कारणभूत पूजादि सम्बन्धी शुभराग को धर्म कहना तो लौकिकजनों की बात है। जिन्हें अलौकिक वीतरागमार्ग की खबर नहीं हैं, ऐसे अज्ञानीजन लौकिकजन हैं; वे शुभराग को ही धर्म मानते हैं। लोकोत्तर जिनमार्ग में वीतरागमार्ग को धर्म कहा है, राग को धर्म नहीं कहा।

नियमसार में आचार्य कुन्दकुन्ददेव ने रत्नत्रय धर्म को नियम से कर्त्तव्य कहा है। मोक्ष प्राप्ति के लिए ये नियम से कर्त्तव्य हैं। शुभराग को कर्त्तव्य नहीं कहा। वह तो नियम से छोड़ने योग्य है। वह जब छूटेगा, तभी मोक्ष होगा। राग सारभूत नहीं है, सारभूत तो शुद्ध रत्नत्रय है। आत्मा से विपरीत रागादि भावों का शुद्ध रत्नत्रय में अभाव है। यह शुद्ध रत्नत्रय ही मोक्षार्थी जीव का कर्त्तव्य है, यही मोक्ष का कारण है।

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

वीतरागभाव ही सारभूत है और वह ही धर्म है। अन्तर्मुख होकर ऐसे धर्म की भावना करनेवाला जीव स्वयं अचल सुख का अनुभव करता है, उसका संसार विलीन हो जाता है। श्रीमद् राजचन्द ने कहा है :—

उपजे मोह विकल्प से यह समस्त संसार।
अन्तर्मुख अवलोकते विलय होत नहिं वार॥

इस जीव की यह संसार दशा मोह से ही है। अन्तर में अपने सुख स्वभाव का अवलोकन करने से संसार क्षणमात्र में विलीन हो जाता है, उसमें देर नहीं लगती। अन्तर में नजर करके सुख को देखा और तुरन्त दुःख का नाश हो गया। सुख की उत्पत्ति और दुःख का व्यय एकक्षण में ही हो जाता है। ऐसी सुख दशा का अवलोकन ही धर्म है। ऐसा धर्मधारक जीव तत्काल अपने में मोक्ष सुख को देख लेता है कि मुझे राग रहित अपूर्व शान्ति का वेदन हुआ है। परिपूर्ण शान्ति का वेदन ही मोक्ष है। कोई जीव धर्म करे और उसे मोक्ष की खबर न पड़े — ऐसा नहीं हो सकता। धर्म में मोक्ष सुख का स्वाद है और संसार दुःख का अभाव है।

धर्म सुख है और मोह दुःख है। आत्मा स्वयं आनन्दस्वरूप है; इसलिए उसकी सन्मुखता में आनन्द का वेदन होता है। धर्म का प्रारम्भ होते ही साधक को आत्मा के आनन्द का वेदन प्रारम्भ हो जाता है। देह में एकत्व बुद्धिवाले अज्ञानी कहते हैं - 'पहला सुख निरोगी काया', परन्तु यह बात सत्य नहीं हैं । शरीर तो जड़ है, आत्मा से भिन्न है, उसमें आत्मा का सुख नहीं है। वास्तव में पहला सुख तो सम्यग्दर्शन है, दूसरा सुख चारित्रदशा है और तीसरा सुख (उत्तम सुख) केवलज्ञान है। सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र, ये तीनों निर्मोह हैं और निर्मोहीपने में ही सुख है।

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

देह में आत्मबुद्धि सबसे बड़ा मोह है और मोह में सुख कैसा? मोह रहित सिद्ध भगवान किसी भी बाह्य सामग्री के बिना परिपूर्ण सुखी हैं। जैसा आनन्द सिद्ध भगवान को है, वैसा ही आनन्द धर्मी जीव स्वसन्मुखता द्वारा अपने में अनुभव करते हैं, उसमें भी किसी बाह्य सामग्री का आलम्बन नहीं है; क्योंकि सुख तो आत्मा का स्वभाव है, उसमें अन्य पदार्थों की क्या आवश्यकता है? भाई तेरा स्वभाव तो तेरे पास है, उसके सन्मुख होकर, उसकी भावना भा, इससे तुझे सारभूत सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र उत्पन्न होंगे, मोह रहित धर्म होगा और तू अपने में मोक्ष के अचल सुख का अनुभव करेगा।

इसप्रकार धर्म भावना का वर्णन पूरा हुआ।

***

मानत क्यों नहिं रे, हे नर सीख सयानी।
भयौ अचेत मोह मद पीके, अपनी सुध बिसरानी॥
दुखी अनादि कुबोध अव्रततैं, फिर तिनसौं रति ठानी।
ज्ञानसुधा निजभाव न चाख्यौ, परपरनति मति सानी॥ १॥
भव असारता लखै न क्यों जह, नृप ह्वै कृमि विट थानी।
सधन निधन नृप दास स्वजन रिपु, दुखिया हरिसे प्रानी॥ २॥
देह एह गद-गेह नेह इस, हैं बहु विपति निशानी।
जड़ मलीन छिनछीन करमकृत, बन्धन शिवसुख-हानी॥ ३॥
चाहज्वलन ईंधन विधि वन घन, आकुलता कुलखानी।
ज्ञान सुधा-सर शोषन रवि ये, विषय अमित मृतुदानी॥ ४॥
यौं लखि भव तन भोग विरचि करि, निजहित सुन जिनवानी।
तज रूष-राग 'दौल' अब अवसर, यह जिनचन्द्र बखानी॥ ५॥

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

अपनी अनुभूति पिछानी

अब छठवीं ढाल की विषय-वस्तु का संकेत करते हुए पण्डित दौलतरामजी कहते हैं :—

सो धर्म मुनिनकरि धरिये तिनकी करतूति उचरिये।

ताको सुनिये भविप्रानी अपनी अनुभूति पिछानी॥ १५॥

धर्मीजीव इन भावनाओं को भाते हुए वैराग्यपूर्वक मुनिदशा अंगीकार करते हैं। छठवीं ढाल में मुनिदशा की क्रियाओं का वर्णन करेंगे— यह संकेत करनेवाला छन्द लिखकर पाँचवी ढाल पूरी करते हैं।

अन्तिम धर्मभावना में मोह से भिन्न सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्ररूप शुद्धभाव को धर्म कहा था। ऐसे धर्म को धारण करके मुनिराज मोक्ष सुख को साधते हैं। ऐसे मोक्षसाधक मुनिराजों की क्रिया कैसी होती है, उसका वर्णन छठवीं ढाल में करेंगे। हे भव्य जीवो ! तुम उसे उदारतापूर्वक सुनो और अपनी अनुभूति को पहचानकर ऐसे धर्म की आराधना करो।

१. पहली ढाल में चार गति के दुःखों का वर्णन किया है।
२. दूसरी ढाल में दुःख के कारणभूत मिथ्यात्वादि का वर्णन किया है।
३. तीसरी ढाल में मुक्ति के कारणभूत सम्यग्दर्शन का वर्णन किया है।
४. चौथी ढाल में सम्यग्ज्ञान और देशव्रतों का वर्णन किया है।
५. इस पाँचवी ढाल में बारह अनुप्रेक्षाओं का वर्णन किया है।
६. अब छठवीं ढाल में मुनिदशा और उसके फल रूप केवलज्ञान और मोक्ष का वर्णन करके यह ग्रन्थ पूरा करेंगे।

चारित्रदशा के बिना मुक्ति नहीं होती। धर्मात्मा श्रावक वैराग्य पूर्वक मुनिदशा की भावना सदा करते रहते हैं।

श्रीमद् राजचन्द्रजी ने भी अपूर्व अवसर काव्य में ऐसी भावना भाई है —

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

Version 001: remember to check http://www.AtmaDharma.com for updates

अपूर्व अवसर ऐसा कब आएगा ?
कब होऊँगा बाह्यान्तर निर्ग्रन्थ मैं...
सम्बन्धों का तीक्ष्ण बन्धन छेदकर,
कब विचरूँगा महत्पुरुष के पंथ में !

जिस चारित्र पथ पर चलकर तीर्थंकरादि महापुरुष मोक्ष में गए; उस मार्ग पर हम भी चलें...ऐसा धन्य अवसर कब आएगा? अन्तर्बाह्य सभी प्रकार के बन्धनों को छेदकर, निर्ग्रन्थ मुनि बनकर केवलज्ञान की साधना करेंगे — अहा ! ऐसा अपूर्व अवसर कब आयेगा ?

तप की महिमा बताते हुए कुन्दकुन्द स्वामी मोक्षप्राभृत में लिखते हैं कि जिन्हें ध्रुव सिद्धि है अर्थात् मुक्ति निश्चित होने वाली है, जो मुनिदशा में चार ज्ञान सहित हैं, ऐसे तीर्थंकर भगवान भी मुनिदशा में तपश्चरण करते हैं — ऐसा जानकर, हे ज्ञानवान पुरुषो ! तुम भी अवश्य तप करो अर्थात् चारित्रपूर्वक आत्मस्वरूप में एकाग्रता का उद्यम करो। इससे भी केवलज्ञान और मोक्ष की साधना होती है। ऐसी चारित्रदशा धन्य है।

जिसप्रकार व्यापारी लोग दीवाली आदि के अच्छे मौसम में व्यापार की धूम मचाकर थोड़े ही समय में बहुत कमाई कर लेते है। उसीप्रकार धर्मात्मा जीव धर्मसाधना के मौसमरूप चारित्रदशा में धर्म की धूम मचाकर महान मोक्ष का वैभव प्राप्त कर लेते हैं। धर्मसाधना का मौसम ही साधुपद कहलाता है। उसी के लिए ये बारह भावनायें हैं। धर्मीजीव भावना भाता है कि अहा ! चारित्रदशा किसे अच्छी न लगेगी? हम तो ऐसी चारित्रदशावन्त मुनियों के दास हैं, उनके चरणों के सेवक हैं। उन्हें हम 'णमो लोए त्रिकालवर्ती सव्व साहूणं' कहकर अत्यन्त बहुमान से नमस्कार करते हैं।

इसप्रकार बारह भावनाओं का वर्णन पूरा हुआ।

***

Please inform us of any errors on rajesh@AtmaDharma.com

हमारे यहाँ प्राप्त महत्त्वपूर्ण प्रकाशन

ग्रन्थ	मूल्य	ग्रन्थ	मूल्य
मोक्षशास्त्र	50.00	कालजयी व्यक्तित्व बनारसीदास	10.00
सम्यग्ज्ञान चन्द्रिका भाग-1	40.00	समयसार अनुशीलन भाग-3 (पू.)	10.00
समयसार	35.00	विदाई की बेला	10.00
प्रवचनसार (श्री जयसेनाचार्य)	32.00	आ. कुन्दकुन्द और उनके टीकाकार	10.00
पद्मनन्दि पंचविंशतिका	32.00	छहढाला/वारसाणुवेक्खा	8.00
प्रवचनसार (अ. अमृतचन्द्र)	30.00	श्रावकधर्मप्रकाश	8.00
सम्यग्ज्ञान चन्द्रिका भाग-2 (उत्तरार्द्ध)	30.00	बारहभावना : एक अनुशीलन	8.00
सम्यग्ज्ञान चन्द्रिका भाग-2		वीतराग-विज्ञान प्रशिक्षण निर्देशिका	8.00
(पूर्वार्द्ध)/समयसार नाटक	25.00	शीलवान सुदर्शन/उपसर्गजयी सुकमाल	8.00
सम्यग्ज्ञान चन्द्रिका भाग-3	25.00	अध्यात्म संदेश/आप कुछ भी कहो	7.00
अष्टपाहुड़/मोक्षमार्ग प्रकाशक	20.00	ती.भ. महावीर और उनका सर्वोदयतीर्थ	7.00
समयसार अनुशीलन भाग-1/भाग-2	20.00	भगवान नेमिनाथ/भगवान शान्तिनाथ	7.00
समयसार कलश टीका	20.00	चौबीस तीर्थंकर पूजन विधान	7.00
समाधितंत्र प्रवचन/नयप्रज्ञापन	20.00	विदेहक्षेत्रस्थ विद्यमान विशांति ती. पूजा	7.00
प्रवचन रत्नाकर भाग-8/जिनेन्द्र अर्चना	20.00	सुखी होने का उपाय भाग-1/भाग-2	7.00
प्रवचन रत्नाकर भाग-3/योगसार	20.00	सुखी होने का उपाय भाग-3/भाग-4	7.00
आ. अमृतचन्द्र : व्यक्तित्व और कर्तृत्व	20.00	सुखी होने का उपाय भाग-5	7.00
नियमसार/बृहद् द्रव्यसंग्रह	18.00	जिनवरस्य नयचक्रम	6.00
सिद्धचक्रविधान/अमृताशीति	18.00	पंचकल्याणक प्रतिष्ठा महोत्सव	6.00
परमभावप्रकाशक नयचक्र	16.00	णमोकार महामंत्र/अहिंसा के पथ पर	6.00
कार्तिकेयानुप्रेक्षा/भावदीपिका	16.00	जैनधर्म की कहानियाँ भाग-8	6.00
पुरुषार्थसिद्ध्युपाय	15.00	भगवान पार्श्वनाथ/मुक्ति का संघर्ष	6.00
प्रवचन रत्नाकर भाग-2/भाग-6	15.00	विचार के पत्र विकार के नाम	6.00
पंचास्तिकायसंग्रह/संस्कार/धवलासार	15.00	दशलक्षण विधान/बीस तीर्थंकर विधान	6.00
इन भावों का फल क्या होगा	15.00	अर्द्धकथानक/बनारसीविलास	5.00
इन्द्रध्वज विधान/गुणस्थान विवेचन	15.00	परीक्षामुख/अध्यात्म रत्नत्रय	5.00
प्रवचनरत्नाकर भाग-1/भावना शतक	13.00	अपूर्व अवसर/सामान्य श्रावकाचार	5.00
आत्मा ही है शरण/ज्ञानगोष्ठी	12.00	वीतराग-विज्ञान प्रवचन भाग-3/भाग-4	5.00
सत्य की खोज	12.00	क्रमबद्धपर्याय/गागर में सागर	5.00
पण्डित टोडरमल : व्यक्तित्व और कर्तृत्व	11.00	आ. कुन्दकुन्द और उनके पंचपरमागम	5.00
कल्पद्रुम मण्डल विधान	11.00	पंचपरमेष्ठी पूजन विधान	5.00
प्रवचनरत्नाकर भाग-4/भाग-5/भाग-7	10.00	शांति विधान/रत्नत्रय पूजन विधान	5.00
भक्तामर प्रवचन/आत्मानुशासन	10.00	भक्ति सरोवर/युगपुरुष कानजीस्वामी	5.00
तत्त्वज्ञान तरंगिणी/धर्म के दशलक्षण	10.00	वीतराग-विज्ञान प्रवचन भाग-2	4.00
रामकहानी/साधना के सूत्र	10.00	वीतराग-विज्ञान पाठ. भाग-2/भाग-3	4.00